ऋषि श्रावक समिति ग्रंथ माला का १० वाँ पुष्प

अर्हम्

श्री परमात्ममार्ग दर्शक ।

निर्माता—
शास्त्रोद्धारक, जैन दिवाकर, जैनाचार्य—
पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज

संपादक—
पं० कविरत्न श्री अमरचन्द्रजी महाराज

श्रीमती अनारवाई जी की तरफ से सादर भेट

प्रकाशक—
श्रीमान् स्व० राजावहादुर लाला सुखदेवसहाय जी के सुपुत्र-
"जैन समाज भूपण" सेठ ज्वालाप्रसाद माणकचन्द्र जैन जौहरी
महेन्द्रगढ़ (पटियाला)

दूसरा संस्करण १०००
सप्रेम उपहार
वीराब्द २४६२
विक्रमाब्द १९९२

श्री कौशिक प्रिंटिंग प्रेस महेन्द्रगढ़ ।

प्रकाशक:—

राजाबहादुर—

लाला सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जैन जौहरी

"लाला भवन" पो० महेन्द्रगढ़ (पटियाला)

सूचना:—

जिन महानुभावों को इस पुस्तक की आवश्यकता हो, वे केवल डाक खर्च के लिये ग्यारा आने ।।≡) के टिकट भेजकर ऊपर लिखे प्रकाशक जी के पते से मंगालें।

मुद्रक:—

श्री कौशिक प्रिंटिंग प्रेस,

महेन्द्रगढ़ (पटियाला)

अर्पण

कच्छ देश पावन कर्ता, आठकोटी मोटी पक्ष के परमाचार्य पूज्यपाद श्री कर्मसिंहजी महाराज के शिष्यवर्य प्रवर पण्डित कविवरेन्द्र आत्मार्थी युवाचार्य मुनिराज श्री नागचन्द्र जी !

मैं

स्वप्न में भी

नहीं जानता था कि

"परमात्म मार्ग दर्शक"

ग्रन्थ मेरे हाथसे लिखा जायगा

प्रारंभ में आपकी ही प्रेरणा से

मैं उक्त प्रस्तुत ग्रंथ को लिख

सकने में समर्थ हुवा, अतः

यह ग्रंथ आपही के कर कम-

लों में समर्पण कर के

अपनी कृतज्ञता

प्रगट करता

हूं

गुणानुरागी—

अमोलक ऋषि

आभार पत्र

दानेश्वरी जैन समाज भूषण लाला ज्वालाप्रशाद जी ने प्रस्तुत परमात्म मार्ग दर्शक ग्रंथ की द्वितीयावृत्ति प्रसिद्ध करने की इच्छा प्रकट की और शुद्धि वृद्धि करने को कहा ! किन्तु वृद्धावस्था और कार्य भार के कारण मैं नहीं कर सका। अत एव उक्त कार्य का समस्त भार कविराज सिद्धहस्त-लेखक प्राकृत संस्कृत के मान्य विद्वान् मुनि श्री अमरचन्द्रजी को सौंपा गया। आप श्री ने निरवकाश होते हुये भी भाषा संशोधन, प्रूफ़ संशोधन एवं अन्य आवश्यक संशोधन आदि कार्य अत्यंत परिश्रम उठाकर बड़ी योग्यता के साथ किया। इस के लिये मैं आप श्री का अन्तः करण से आभार मानकर सहस्रशः धन्यवाद देता हूं।

आश्विन शुक्ला
द्वितीया रविवार
सं० १९९२

अमोलक ऋषि

······आप श्री ने तन, मन और धन से समाज की खूब ही सेवा की है। आप जैसे प्रख्यात धनपति थे वैसे ही धन का सदुपयोग करना भी जानते थे। अनेको शिक्षण संस्थाओ के आप प्राण थे। स्थानक वासी जैन समाज के लिये तो आप प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष थे। गाँव गाँव में ३२ सूत्रों की पेटीयां अमूल्य भेंट देकर ज्ञान दान का अपूर्व लाभ लिया था। आपने अपने जीवन में क़रीब चार लाख रुपयों का दान किया है। किं बहुना, आपश्री जैनसमाज के चमकते-सितारे थे। आप अपनी अखिल भारतीय जैन कान्फ्रेंस के जनरल सेक्रेटरी थे, और अजमेर नगरी के अभूत पूर्व अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष थे। आप के आकस्मिक देहावसान से जैन समाज की कभी न पूरी हो सकने वाली महान क्षति हुई है····।

—जैन प्रकाश

संपादकीय

पुस्तक में क्या है ?

पूर्णता सुख है और अपूर्णता दुःख । अतएव दुःख से आत्यन्तिक छुटकारा पाने की इच्छा रखने वालों को अवश्य ही अपनी अपूर्णता दूर करनी होगी; यह ध्रुव सत्य है । बिना अपूर्णता दूर किये और इसके फल स्वरूप बिना पूर्णता प्राप्त किये, जिसे वास्तविक सुख कहना चाहिये वह मिल नहीं सकता । मिलना तो क्या, यों कहिये, उसकी छाया तक के दर्शन नहीं हो सकते । धर्म शास्त्रकारों की दृष्टि मे जीवो का सासारिक आत्मपद अपूर्ण अवस्था है और मोक्ष-स्थानीय परमात्मपद पूर्ण अवस्था । इसी लिये धार्मिक जगत् का अन्तिम साध्य सदा से परमात्मपदप्राप्ति ही रहा है । उक्त परमात्मपद किन किन साधनो से मिल सकता है, इसका उत्तर श्री ज्ञाता धर्मकथा सूत्र मे दिया है । प्रस्तुत पुस्तक का भी यही विषय है और यही आधार भूमि है, अतएव इस में परमात्म पद-प्राप्ति के बीस साधनों का सामान्य जनता के हितार्थ बड़े अच्छे ढग से सविस्तर वर्णन किया है ।

मैंने क्या किया ?

यह पुस्तक, आज से तेईस वर्ष पहिले दक्षिण हैदराबाद से श्रीमान् लालाजी के द्वारा प्रकाशित हुई थी । आज इसका यह द्वितीय संस्करण है, जो लालाजी की ही बड़ी बहिन धर्म निष्ठा श्रीमती अनार बाई की तरफ से भेट है । प्रथम संस्करण का समय कुछ और था, और आज द्वितीय संस्करण का समय कुछ और ही है । उस समय की हिन्दी अपने शैशवकाल मे घुटनो के बल रेंग रही थी, तो आज की हिन्दी अपने नवयौवन के प्रारंभ मे द्रुतगति से कदम बढाये आगे की ओर चली जारही है । आज का युग भावसौन्दर्य के साथ भाषा सौन्दर्य की भी बहुत कुछ अपेक्षा रखने लग गया है । इसी दृष्टि को लेकर प्रस्तुत पुस्तक के संशोधन आदि का कार्य, ग्रन्थलेखक पूज्य श्री एव लालाजी के अनुरोध से एक प्रकार से निरवकाश होते हुये भी मुझे अपने दुर्बल हाथों में लेना पडा । अनन्तर मैने क्या किया और क्या न किया, इसका निर्णय करने के लिये पाठक महोदय, प्रथम और द्वितीय-दोनो संस्करणों की एक साथ गवाही ले सकते हैं ।

भारी भरकम अड़चनें

फिर भी प्रसंगोपात्त एक बात कह लेना चाहता हूं। उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज के दशवैकालिक सूत्र का कुछ वर्ष हुये मैंने सपादन किया था, वह प्रयत्न से कहिये या भाग्य से बहुत कुछ सुन्दर हुआ है, अतएव पाठको को पसंद भी आशा से अधिक आया है। उसी के समान इसे भी यथावश्यक आमूल चूल परिमार्जन कर बिल्कुल अप टु डेट बनाना चाहता था, किन्तु तब जैसा न तो इस समय स्वास्थ्य ही ठीक था और न अवकाश ही था। अगर इसके लिये कुछ अधिक समय मिलता तो अपने विचारों के अनुसार अवश्यही कुछ न कुछ करता, परन्तु ऐसा करने के लिये—अधिक समय देने के लिये पूज्यश्री 'नकार' में थे, क्यों—आप शीघ्रही छपाने के विचार में थे। तथापि जैसे तैसे कार्य ठीक ही चल रहा था कि—इसी बीच मे दैवदुर्विपाकात् गत श्रावण कृष्णा चतुर्दशी के दिन सेवक के परम गुरू श्रीमन्मनोहरसंप्रदायगगनांगणदिनमणि प्रतापी आचार्य-श्री श्री १००८ पूज्य श्री मोतीरामजी महाराज का स्वर्गवास होगया। इस आकस्मिक दुःखद वियोग के कारण तो हृदय ऐसा विक्षुब्ध हुआ कि—फिर मेरे से समुचित सावधानी के साथ यों कहिये कुछ बनही न पड़ा। यह मेरे उक्त ग्रन्थ के संपादन की संक्षिप्त कहानी है, जोकि—' पदे पदे विघ्न परंपरा परा ' की निशानी है।

पुस्तकीय पद्यों के विषय में

दो शब्द पुस्तक में के प्राकृत संस्कृत पद्यो के विषय में भी कह लेने के हैं। व्याकरण की दृष्टि से प्रथम संस्करण में प्रायः बहुत से पद्य अशुद्ध छप गये हैं। उन्हें शुद्ध करने की भरपूर कोशिश की, परन्तु तत्तत् ग्रन्थों की सामग्री न मिलने के कारण कृतकार्य न होसका। यद्यपि अपनी कल्पना के अनुसार कुछ पद्य ठीक भी किये हैं, फिर भी बहुत से पद्यों का तो पता भी न चला कि वे क्या है और क्या नहीं, अतः उन्हें ज्यों का त्यों ही रखना पड़ा। इसके अतिरिक्त मैं करभी क्या सकता था? अगर भाव लेकर नये शिरे से पद्य बनाता तो वे उन ग्रन्थों के नाम पर और भी अधिक असंगत होते।

संस्मरणीय सहयोग

श्रद्धेय गुरुदेव पं० श्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज तथा लघुगुरुबन्धु मुनि श्री अमोलकचन्द्रजी का अन्तर्हृदय से अत्यन्त आभार मानता हूं कि—जिनके संस्मरणीय सहयोग के द्वारा ही यह सुदीर्घसमयसाध्य गुरुतम कार्य इतना शीघ्र संपन्न होसका है। अन्यथा मेरी लाचारियां तो इतनी अधिक थी कि—उक्त कार्य का इस प्रकार शीघ्र ही संपन्न होजाना असंभवसा था।

भूलों के प्रति

मनुष्य आखिर मनुष्य है—भूल का पुतला है, अतः वह गर्व नहीं कर सकता कि मै कभी भूल नहीं करता। कितनी ही क्यो न सावधानी रक्खी जाय, अन्ततः भूल तो मनुष्य को भुला ही डालती है। इसलिये मनुष्यता के नाते किंवा अपनी निजी पामरता के नाते मैं भी भूला हूं और काफी भूला हूं। यत्र तत्र श्वेतपृष्ठासनों पर विराजमान भूले, मेरी क्षुद्रमस्तिष्कता का चिर काल तक ढिंढोरा पीटती रहेंगी। परन्तु सहृदय पाठकों से आशाही नहीं, दृढ़ विश्वास है कि वे उन्हे कुछ महत्व नहीं देगे और मेरे पर सस्नेह सद्भावना रक्खेंगे।

महेन्द्रगढ़
मार्गशिर, सं० १९९२ } —मुनि, अमर
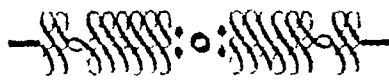
शुभ-सम्मति ।

[आज से तेईस वर्ष पहिले यह पुस्तक लिखी गई थी । उस समय ग्रन्थ-लेखक पूज्य श्रीजीने इसकी हस्त लिखित प्रति, कच्छ देश पावन कर्ता आठ कोटि मोटी पक्ष के प्रतापी आचार्य श्री कर्मसिंह जी महाराज की सेवा मे अवलोकनार्थ भेजी थी । आचार्यश्री ने पुस्तक पर जो अपना अभिप्राय प्रगट किया है, वह प्रथम संस्करण मे छपा है । आज दूसरे संस्करण मे भी उनका आशीर्वाद सादर प्रकाशित किया जारहा है-सं०]

" महारी आजे ८४ वर्षनी वय थयेल छे, तेमां अद्यापि पर्यंत आपणा साधु मार्गी वर्गमां आवा उत्तम बोधक तत्वरसथी भर्या ग्रन्थना कर्ता में दीठा के सांभल्या न हता, तेहवा ग्रन्थना कर्ता नो रचेलो आ अमूल्य रत्न करंडक सदृश ग्रन्थ सांभलता म्हारा रोम रोम मां आनंद जागृत थायछे । आवा मुनिरत्नों ने विद्वानों पाक से त्यारेज आपणी कोमनुं उदय किरण चलकसे, पण मत्रूर

शैले शैले न माणिक्यं, चदनं न वने वने ।
साधवो नहि सर्वत्र, मौक्तिकं न गजे गजे ॥

अर्थात्—"उत्तम गुणतोना कांइ टोला के ढेर होता नथी" ! एहवा मुनिवरों तो हजारों मां एकाद बे जवलेज मली आवेछे, म्हारी जईफ अवस्था मां उक्तग्रन्थ नों श्रवण थयुं जेथी हूं म्हारा अहो भाग्य समजुं छुं ! तेओ महात्मा सुखद लांबी उमर भोगवी, आवा उत्तम ग्रन्थों रचि, जैन प्रजामां अमर बनो ! एम हूं म्हारा खरा अंतः करण नी भावना थी शासन देव प्रते पुनः पुनः प्रार्थु छुं, उक्त भावना फलो ! एम हूं खरा जिगरथी चाहूं छुं ।

प्रस्तावना

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा ।
एय मग्गमणुपत्ता जीवा गच्छन्ति सुग्गइं ॥

सर्व कार्यों की सिद्धि तत्साधक मार्ग में प्रवृत्ति करने से ही होती है, यह न्याय सर्व मान्य है। मानों इसलिये ही परमात्मा श्री महावीर प्रभु ने प्रथम आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्याय के प्रारंभ में ही फरमाया है कि-"आत्मकल्याणार्थी जीवों को सर्व प्रथम तो यह जानना चाहिये कि-मैं कौनसी दिशा (मार्ग) से आया हूं" उक्त जानपणे के लिये अट्ठारह द्रव्य दिशा और अट्ठारह ही भाव दिशा (मार्ग) का वर्णन किया है। अनन्तर इस सिद्धान्त की पुष्टि करने के लिये फरमाया है कि-"जो अन्य के सद्बोध से या स्वतः की मति (जाति स्मरण आदि ज्ञान) से ऐसा जाने कि-मै अमुक दिशा से आया हूं वही महात्मा-'आत्मवादी' आत्मा को मानने वाला 'लोक वादी' लोकालोक को मानने वाला 'कर्म वादी' बन्ध मोक्ष को मानने वाला और 'क्रिया वादी' मोक्ष के क्रिया काण्ड को मानने वाला होता है।'

इस सद्बोध का मतलब यह है कि-जो भवभ्रमण को जानेगा वह श्रद्धेगा, और जो श्रद्धेगा वह भव भ्रमण के दुःखों से छूटने के उपाय-स्वरूप परमात्मपद प्राप्त करने के मार्ग में प्रवृत्ति करेगा। अन्त में परमानन्दी परम सुखी बनेगा।

जो महानुभाव परमात्मपद प्राप्त करने के मार्ग में प्रवृत्ति करने के शौकीन हैं, वे उस मार्ग के और उसमें प्रवृत्ति करने की रीति के अवश्यही जानकार होवेंगे, तवही अभीष्टार्थ सिद्ध करने को समर्थ बनेंगे। उक्त अभीष्टार्थ की सिद्धि के लिये श्री महावीर परमात्माने श्री उत्तराध्ययनजी सूत्र के २८ वें अध्याय की तीसरी गाथा में जो परमात्म-पद प्राप्त करने का उपाय वताया है, वह गाथा प्रस्तुत प्रस्तावना की

आदि में ही लिख आया हूं। उसका तात्पर्य यह है कि—" मोक्ष गति-रूप जो परमात्म पद है उसे प्राप्त करने के अभिलाषियों को ज्ञान—दर्शन—चारित्र—और तप के मार्ग में अनुक्रम से प्रवृत्ति करना चाहिये। तत्त्वार्थ—सूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में भी यही सद्बोध है, कि " सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः " अर्थात् सम्यग् दर्शन, सम्यक ज्ञान, और सम्यक् चारित्र इन तीनों का समुदाय ही मोक्ष यानी परमात्म पद की प्राप्ति का मार्ग है।

उक्त मार्ग को आराधन करने की विधि के २० बोल, और उनके द्वारा उपरोक्त मार्ग का आराधन कर अन्त में परमात्म पद प्राप्त करने का कथन "श्री ज्ञाता धर्म कथांग" शास्त्र के ८ वें अध्याय में श्री मल्लिनाथ परमात्मा का दृष्टांत देकर समझाया है। इन २० ही बोलों का वर्णन आचारांग, सुयगडांग. समवायांग, विवाहपन्नति (भगवती), प्रश्न व्याकरण, उववाइ, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नंदी, अनुयोगद्वार, आवश्यकजी आदि सूत्रों और बृहद् द्रव्यानुयोग संग्रह, ज्ञानार्णव, सुमति—प्रकाश, न्याय कर्णिका, नवतत्व प्रश्नोत्तर, तत्वार्थ सूत्र, अठार दोष निषेध, जैन तत्व प्रकाश आदि ग्रन्थों की पूर्ण सहायता से यथा मति विस्तार कर प्रस्तुत ग्रन्थ मात्र पांच महीने में ही लिखा गया है, तथैव नाम भी गुण निष्पन्न ही " श्री परमात्म मार्ग दर्शक " स्थापन किया है।

अस्तु मुमुक्षु सज्जनों से नम्र निवेदन है कि—वे तत्व ज्ञानके सागर, सन्मार्ग के दर्शक उक्त ग्रंथका यत्ना के साथ स्थिर एवं शुद्ध चित्त से पठन मनन निदिध्यासन करें, केवल गुणानुरागी ही हो हितकारी वचनों का हृदय कोश में संग्रह करें, और यथा शक्ति परमात्म पद प्राप्ति के मार्ग में प्रविष्ट होकर परमात्मा—परमानन्दी— परम सुखी—बनें ! !

श्री जैन स्थानक,
चार कमान, दक्षिण हैद्राबाद
वीर सं० २४६८ श्रावणपूर्णिमा

विज्ञेषु—किंबहुना,
आत्मोन्नति—इच्छुक,
अमोलक ऋषि,

'एक बड़ी भूल परन्तु बड़ी अनुकूल'

—:o:—

ग्रन्थ–प्रवेशिका में तीर्थंकर गोत्र उपार्जन करने की तीन गाथाएँ श्री ज्ञाता धर्म कथांग सूत्र की हैं; मुख्यतया उनके आधार पर ही इस ग्रन्थ की रचना कीगई है। उन तीन गाथा में की पहिली गाथा के तीसरा पदका उत्तरार्द्ध "वछलायतेसिं" है। इसका अर्थ तो यह है कि पूर्वोक्त अरिहंतादि सातों की वत्सलता यानी भक्ति करनी। परन्तु ग्रन्थ की पाण्डु लिपि लिखते समय यह पद "वच्छलाते संघ" इस रूप में याद रहा और इसका अर्थ भी संघ की वत्सलता समझा गया। इस आधार पर ही ग्रन्थ के अष्टम प्रकरण की रचना भी होगई। आगे चलकर सत्तरहवें प्रकरण का हेडिंग दो प्रकरणों पर बेभान से लिखा गया, जिससे अन्त में वीसही प्रकरण पूर्ण होने से किसी प्रकार का संशय नहीं हुआ। यह भूल दूसरी बार शुद्ध प्रति लिखते समय एवं कच्छ देश पावन कर्ता महात्मा श्री जीके निरीक्षण करते समय तथा बाद में तीन बार मेरी दृष्टि के नीचे पूर्ण ग्रंथ निकालते समय भी जानने में नहीं आई। जब सोलह प्रकरण छप गये और मुद्रणालय के मैनेजर ने आगे की हस्त–लिखित प्रति का अवलोकन किया तो दो प्रकरणों पर एक सत्तरहवाँ हेडिंग दृष्टिगत हुआ। इस पर जब उन्हें भूल प्रतीत हुई तो मूल प्रति लेकर मेरे पास आये एवं भूल दर्शाई। तब प्रारंभ से तपास करने पर ऊपर लिखे अनुसार पद के मात्र एक ही अक्षर तेसिंका–तेसंघ * होने के कारण उक्त भूल जानने में आयी!!

* देखिये एकही अक्षर का सहजही फेरफार होने से अर्थ में कितना महान् अन्तर पड जाता है!

यह भूल बड़ी तो इसलिये गिनी जाती है कि श्री सर्वज्ञ परमात्मा ने तो तीर्थंकर गोत्र उपार्जन करने के २० बोल फरमाये हैं, और मेरी भूल से २१ होगये ! इसलिये सर्वज्ञ की आज्ञा से अधिक कथनी का जो यह दोष मुझे लगा है तदर्थ मैं त्रिकरण से पश्चातापयुक्त पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि युक्त मिच्छामि दुक्कडं करता हूं—कि हे प्रभु, यह मेरी अजान से हुई भूल का पाप निष्फल होवे।

और यह भूल बड़ी ही अनुकूल इसलिये गिनी जाती है कि—इस प्रकरण का समावेश ग्यारहवें विनय नामक बोल में और सत्तरहवें वैयावृत्य नामक बोल में होजाता है। किसी विशेष विवेचनादि के लिये यदि एक बोल के दो प्रकरण किये जावें तो भी कुछ विरुद्ध नहीं होता है। इस कारण मै उपर्युक्त दोष से मुक्त भी हो सकता हूं ! तथा संघ भक्ति के आठवें प्रकरण में जो विवेचन किया गया है वह इस जमाने में बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा—इसलिये भी वह भूल अनुकूल गिनी जाती है। —" जिणवयणं सच्चं "।

अमोलक ऋषि

ॐ

ग्रंथ कर्ता का संक्षिप्त--

जीवन वृत्तान्त

मरुदेश में मेड़ता एक शहर है। उस में सेठ कस्तूरचन्द जी काँसटिया रहते थे, आप ओसवाल कुल में उत्पन्न हुए थे। आप श्वेताम्बर मूर्ति पूजक थे। व्यापारार्थ आप मालव प्रांत के "आसटे" नामक शहर में निवास करने लगे। अकस्मात् सेठ जी स्वर्ग के महमान बन गये। आपके जेष्ठ पुत्र एवं लघु पुत्र भी आपके अनुगामी बने। मध्यम पुत्र-वधू भी स्वर्ग सिधारी।

इस प्रकार काल की विकराल गति का अवलोकन करके सेठ जी की धर्म पत्नी जवरां बाई को वैराग्य उत्पन्न होगया। दो पुत्रों का मोह छोड़ कर १८ वर्ष पर्यंत स्थानक बासी जैन धर्म की साध्वी दीक्षा पालकर स्वर्गस्थ हुई।

इस प्रकार स्वकीय कुटुम्बियों के वियोग जन्य व्यथा से व्यथित होकर सेठ साहब के द्वितीय पुत्र केवलचन्द जी भोपाल शहर में आकर रहने लगे। तथा परंपरागत मान्यता के अनुसार पंचप्रतिक्रमण, नवस्मरणादि कण्ठस्थ करके जिन प्रतिमा पूजन-निरत रहने लगे।

समय के अनुसार मनुष्य के जीवन में परिवर्तन होता रहता है। उस समय कुंवर ऋषि जी म० का भोपाल में आगमन हुआ। आप निरंतर एकांतर उपवास करते थे। एक चद्दर से रहते तथा स्वल्प संभाषण करते थे।

शहर में उनके व्याख्यान बड़े चाव से सुने जाने लगे। केवल-चंद जी मूर्तिपूजक होने से उनके व्याख्यानों से लाभ नहीं उठाते थे। एक दिन फूलचंद जी धाड़ीवाल हठपूर्वक उन्हें व्याख्यान सुनने के लिये ले आए। उस समय सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन के चतुर्थ उद्देश्य की ८ वीं गाथा का व्याख्यान चल रहा था। उस दिन के व्याख्यान को सुनने से उन्हें अत्यधिक आनंद हुआ, और बड़ी उत्कंठा के साथ प्रतिदिन व्याख्यान सुनने लगे। प्रतिक्रमण पच्चीस बोल आदि को कण्ठस्थ करके केवलचंद जी केवल मुनि बनने की इच्छा करने लगे। किन्तु भोगावली कर्मों के उदय से "खेड़ी" ग्राम निवासी छोटमल जी टांटिया की पुत्री हुलास बाई से विवाह करना पड़ा। हुलासबाई भी दो पुत्रों को छोड़कर स्वर्गस्थ होगई।

सम्बन्धियों की प्रेरणा से द्वितीय विवाह करने के लिये मारवाड़ में जा रहे थे। मार्ग में रतलाम शहर आता है, रतलाम में पूज्य श्रीउदय-सागर जी महाराज पधारे हुए थे। पूज्य श्री के दर्शन के लिये केवलचंद जी भी गये।

रतलाम में शास्त्रज्ञ एवं बहुश्रुती युवावस्था में सपत्नीक ब्रह्मचर्य व्रत के धारण करने वाले कस्तूरचंद जी बमोड़ मिले और कहने लगे।

"विषका प्याला सहज ही गिर गया है उसे पुनः भरने का क्यों यत्न कर रहे हैं?"

पूज्य श्रीजीने फरमाया कि-एक दफा बैरागी बनकर पुनः वर बनने को क्यों आग्रह हो?

इस प्रकार से उपदेशों का असर होने से केवल चंदजी ने आजी-वन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया। भोपाल लौटने पर पुनः वैराग्य ने रंग जमाया। आज्ञा न मिलने से विवश होकर भिक्षाटन करने लगे। एक मास भिक्षाचरी करने के पश्चात वि० सं० १९४३ चैत्र शुक्ला ५ को श्री पूना ऋषिजी के पास दीक्षा लेकर पूज्य श्री खूबा ऋषिजी महा-राज के शिष्य बने। ज्ञानार्जन के पश्चात तपोऽर्जन में दिन व्यतीत करने लगे।

तपस्या का क्रम इस प्रकार है—
१-२-३-४-५-६-७-८-९-१०-११-१२-१३-१४-१५-१६-
१७-१८-१९-२०-२१-३१-३३-४१-५१-६१-६३-७१-८१-
८४-९१-१०१-१११—और १८१ तक तपश्चर्या तक्राधार (छाछ के-आधार) से की। इनके सिवाय उपवास बेला तेला आदि अनेक प्रकार के तप किये। आप पूर्व, पंजाब, मालवा, मेवाड़, मारवाड़, गुजरात, काठियावाड़, ढुंढाड, झालावाड़, दक्षिण खानदेश और तेलंगाणा आदि अनेक प्रांतों में उग्र विहार करके जैन धर्म का प्रचार करते रहे। वाड़िया और माधोपुर के राजा को मांस भक्षण का त्याग कराया। इस प्रकार बहुत उपकार किये।

केवल चंदजी के ज्येष्ठ पुत्र अमोलकचंदजी ने भी अपने पिता के साथही दीक्षा ग्रहण करने के विचार प्रगट किये। कुटुम्बियों के आग्रह से दीक्षा नहीं ले सके, तथा ननिहाल पहुंचा दिये गये।

एक समय कविवरेन्द्र श्री तिलोक ऋपिजी महाराज के पट्ट शिष्य महात्मा श्री रत्न ऋपिजी तथा तपस्वीजी श्री केवल ऋपिजी महाराज ठा० २ इच्छावर नामक गाम में पधारे। खेड़ी ग्राम से जो कि इच्छावर से ४ मील की दूरी पर था; अमोलकचंदजी अपने मामा के घर से अपने पिता श्रीके दर्शन के लिये इच्छावर आए। पिता श्री को साधु अवस्था में देखकर आपको वैराग्य उत्पन्न होगया। केवल १०-½-वर्ष की लघु अवस्था में मि० फाल्गुण कृष्णा द्वितीया सं० १९४४ के दिन दीक्षा ग्रहण करके केवल ऋपिजी के शिष्य होने की इच्छा प्रगटकी, किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। तदनंतर ये पूज्य श्री खूबा ऋपिजी महाराज की सेवा में ले जाये गये और पूज्य श्रीजी की आज्ञा से उनके शिष्य श्री चैनाऋपिजी महाराज ने जो कि पूज्य श्री के ज्येष्ठ शिष्य थे, अपने शिष्य बनाये।

स्वल्पकाल में पूज्य श्री तथा गुरु वर्य का स्वर्गवास होजाने से तीन वर्ष पर्यंत अपने संसार के पिताजी श्री केवल ऋषिजी के साथ विचरण करते रहे। तदनंतर तपस्वीजी के एकल विहारी होजाने से आपको दो वर्ष तक भेरूं ऋषिजी के साथ रहना पड़ा। सं० १९४८ के फाल्गुण में पन्नालालजी ओसवाल १८ वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर श्री अमोलक ऋषिजी के शिष्य बने।

कविवर श्री कृपाराम जी महाराज के शिष्य रूपचंदजी महाराज जो कि गुरु वियोग–व्यथा से व्यथित थे, उनको शांति प्रदान करने के लिये अमोलक ऋषिजी ने अपने शिष्य को उनकी सेवा में भेज दिया– इससे आपकी उदारता का परिचय प्राप्त होता है।

आप सं० १९४८ के मार्गशीर्ष मास में श्री रत्न ऋषिजी महाराज के सहचारी बने। श्री रत्न ऋषि जीने अमोलकऋषि जी को योग्य पात्र समझ करके शास्त्राभ्यास कराया। सं० १९५६ के फाल्गुण में मोतीराम जी संचेती आपके शिष्य हुए जिनका देहावसान सं० १९६१ के आश्विन मास में बम्बई में होगया।

सं० १९६० का चतुर्मास घोडनदी ग्राम में हुआ था। इसी वर्ष मि० आषाढ शुक्ला ९ को जैन तत्त्व प्रकाश का प्रारंभ हुआ तथा आश्विन शुक्ला १० को ग्रन्थ लिखकर पूर्ण कर दिया।

चतुर्मास के पूर्ण होते ही श्री केवल ऋषिजी म० की वृद्धावस्था जान करके उनकी सेवा में रहने लगे। सं० १९६१ का चतुर्मास बम्बई संघ के आग्रह से हनुमान गली में किया गया। बम्बई में रत्न चिन्तामणि जैन मित्र मण्डल की स्थापना हुई। जैन पाठशाला खुली तथा श्री अमोलक ऋषि जी महाराज कृत पद्य बद्ध "जैना मूल्य सुधा" नामक पुस्तक, मण्डल की तरफ से प्रकाशित की गई।

बम्बई में दक्षिण हैद्राबाद के निवासी सुश्रावक पन्नालालजी दीमतो कार्यार्थ आये थे। उनका कहना हुआ कि हैद्राबाद में साधु मार्गी भाइयों के घर तो बहुत हैं–किन्तु साधुओं के आवागमन के अभाव में

जैन लोग अन्य मतावलंब्वी होते जारहे हैं; अतः आप जैसे महात्मा की कृपा हो जायतो एक नया क्षेत्र खुल जाय एवं अत्यंत उपकार हो।

चतुर्मास पूर्ण होते ही महाराज श्रीने हैद्राबाद की तरफ विहार कर दिया। सं० १९६२ का चतुर्मास इंगतपुरी में किया। यहां के तथा घोटी ग्राम के श्रावकों ने महाराजश्री कृत "धर्म-तत्व संग्रह" ग्रन्थ की १५०० प्रतियें छपवा कर अमूल्य वितरण की। तदनंतर बीजापुर (ओरंगाबाद) आये। यहां के सुश्रावक भिखुजी संचेती ने "धर्म-तत्व संग्रह" का गुजराती अनुवाद १२०० प्रतियों द्वारा अमूल्य वितरण किया।

इस प्रकार ओरंगाबाद जालने होते हुए तथा शीतोष्ण परिषह सहते हुए सं० १९६३ चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को हैद्राबाद (अलवाड़) पधारे। चतुर्मास के लिये चार कमान में कोठी (बंगला) में रहे जो कि लाला नेतरामजी रामनरायणजी ने दी थी।

हैद्राबाद के श्री संघ ने महाराज श्री के व्याख्यानों का शुभ लाभ उठाया। महाराज श्री ने स्याद्वाद के गहन रहस्यों का जनसाधारण की भाषा में अत्युत्तम ढंग से उद्घाटन किया। तत्प्रभावस्वरूप अनेक अजैन जैन, तथा शिथिल धर्मी दृढ़ धर्मी बने। ज्यादा क्या कहें राजा बहादुर लाला सुखदेवसहायजी ज्वालाप्रसादजी जैसे श्रावक रत्न भी प्रसिद्ध दानवीर तथा धर्म प्रभावक बने तथा अनेक शास्त्र प्रवीणा, दुष्कर तप करने वाली, सौभाग्यावस्था में ही चारों स्कंध का पालन करने वाली और सर्व जनों को सुख शांति पहुंचाने की भावना रखने वाली गुलाब बाई श्राविका-रत्न बनी -ये दोनों रत्न जैन समाज का मुखोज्वल करने वाले सिद्ध हुए।

तपस्वीराज श्री केवल ऋषि जी महाराज के शिष्य श्री सुखा ऋषि जी महाराज आश्विन मास से अवस्थ रहे तथा फाल्गुण में आपका स्वर्ग वास होगया। तदनंतर ग्रीष्म ऋतु के आरंभ हो जाने से विहार नहीं हो सका। महाराज श्री का दूसरा चौमासा भी लाला जी के आग्रह से हैदराबाद में ही हुआ। पश्चात् तपस्वीराज जी का स्वास्थ्य एक दम गिर गया, तथा वृद्धावस्था ने हैदराबाद नहीं छोडने दिया-इस प्रकार नव

स्वल्पकाल में पूज्य श्री तथा गुरु वर्य का स्वर्गवास होजाने से तीन वर्ष पर्यंत अपने संसार के पिताजी श्री केवल ऋषिजी के साथ विचरण करते रहे। तदनंतर तपस्वीजी के एकल विहारी होजाने से आपको दो वर्ष तक भेरूं ऋषिजी के साथ रहना पड़ा। सं० १९४८ के फाल्गुण में पन्नालालजी ओसवाल १८ वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर श्री अमोलक ऋषिजी के शिष्य बने।

कविवर श्री कृपाराम जी महाराज के शिष्य रूपचंदजी महाराज जो कि गुरु वियोग–व्यथा से व्यथित थे, उनको शांति प्रदान करने के लिये अमोलक ऋषिजी ने अपने शिष्य को उनकी सेवा में भेज दिया– इससे आपकी उदारता का परिचय प्राप्त होता है।

आप सं० १९४८ के मार्गशीर्ष मास में श्री रत्न ऋषिजी महाराज के सहचारी बने। श्री रत्न ऋषि जीने अमोलकऋषि जी को योग्य पात्र समझ करके शास्त्राभ्यास कराया। सं० १९५६ के फाल्गुण में मोतीराम जी संचेती आपके शिष्य हुए जिनका देहावसान सं० १९६१ के आश्विन मास में बम्बई में होगया।

सं० १९६० का चतुर्मास घोडनदी ग्राम में हुआ था। इसी वर्ष मि० आषाढ शुक्ला ९ को जैन तत्व प्रकाश का प्रारंभ हुआ तथा आश्विन शुक्ला १० को ग्रन्थ लिखकर पूर्ण कर दिया।

चतुर्मास के पूर्ण होते ही श्री केवल ऋषिजी म० की वृद्धावस्था जान करके उनकी सेवा में रहने लगे। सं० १९६१ का चतुर्मास बम्बई संघ के आग्रह से हनुमान गली में किया गया। बम्बई में रत्न चिन्तामणि जैन मित्र मण्डल की स्थापना हुई। जैन पाठशाला खुली तथा श्री अमोलक ऋषि जी महाराज कृत पद्य बद्ध "जैना मूल्य सुधा" नामक पुस्तक, मण्डल की तरफ से प्रकाशित की गई।

बम्बई में दक्षिण हैद्राबाद के निवासी सुश्रावक पन्नालालजी कीमती कार्यार्थ आये थे। उनका कहना हुआ कि हैद्राबाद में साधु मार्गी भाइयों के घर तो बहुत हैं–किन्तु साधुओं के आवागमन के अभाव में

जैन लोग अन्य मतावलंब्बी होते जारहे हैं; अतः आप जैसे महात्मा की कृपा हो जायतो एक नया क्षेत्र खुल जाय एवं अत्यंत उपकार हो।

चतुर्मास पूर्ण होते ही महाराज श्रीने हैद्राबाद की तरफ विहार कर दिया। सं० १९६२ का चतुर्मास इंगतपुरी में किया। यहां के तथा घोटी ग्राम के श्रावकों ने महाराजश्री कृत "धर्म-तत्व संग्रह" ग्रन्थ की १५०० प्रतियें छपवा कर अमूल्य वितरण की। तदनंतर बीजापुर (ओरंगाबाद) आये। यहां के सुश्रावक भिखुजी संचेती ने "धर्म-तत्व संग्रह" का गुजराती अनुवाद १२०० प्रतियों द्वारा अमूल्य वितरण किया।

इस प्रकार ओरंगाबाद जालने होते हुए तथा शीतोष्ण परिषह सहते हुए सं० १९६३ चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को हैद्राबाद (अलवाड़) पधारे। चतुर्मास के लिये चार कमान में कोठी (बंगला) में रहे जो कि लाला नेतरामजी रामनरायणजी ने दी थी।

हैद्राबाद के श्री संघ ने महाराज श्री के व्याख्यानों का शुभ लाभ उठाया। महाराज श्री ने स्याद्वाद के गहन रहस्यों का जनसाधारण की भाषा में अत्युत्तम ढंग से उद्घाटन किया। तत्प्रभावस्वरूप अनेक अजैन जैन, तथा शिथिल धर्मी दृढ़ धर्मी बने। ज्यादा क्या कहैं राजा बहादुर लाला सुखदेवसहायजी ज्वालाप्रसादजी जैसे श्रावक रत्न भी प्रसिद्ध दानवीर तथा धर्म प्रभावक बने तथा अनेक शास्त्र प्रवीणा, दुष्कर तप करने वाली, सौभाग्यावस्था में ही चारों स्कंध का पालन करने वाली और सर्व जनों को सुख शांति पहुंचाने की भावना रखने वाली गुलाब बाई श्राविका-रत्न बनी—ये दोनों रत्न जैन समाज का मुखोज्वल करने वाले सिद्ध हुए।

तपस्वीराज श्री केवल ऋषि जी महाराज के शिष्य श्री सुखा ऋषि जी महाराज आश्विन मास से अवस्थ रहे तथा फाल्गुण में आपका स्वर्ग वास होगया। तदनंतर ग्रीष्म ऋतु के आरंभ हो जाने से विहार नहीं हो सका। महाराज श्री का दूसरा चौमासा भी लाला जी के आग्रह से हैदराबाद में ही हुआ। पश्चात् तपस्वीराज जी का स्वास्थ्य एक दम गिर गया, तथा वृद्धावस्था ने हैदराबाद नहीं छोडने दिया—इस प्रकार नव

चतुर्मास हैदराबाद में ही हुए। इन दिनों में तपस्वीराज केवल ऋषि जी महाराज के उपदेशों से लाखों पंचेन्द्रिय जीवों को अभय दान प्राप्त हुआ और श्री अमोलक ऋषि जी ने अनेक ग्रंथ लिखे। राजाबहादुर लाला सुखदेवसहाय जी ज्वालाप्रसाद जी प्रमुख श्रावकों ने उन्हें छपवाया तथा उन्हें अमूल्य वितरण किया। सं० १९७१ श्रावण कृष्णा १३ मंगलवार को तपस्वीराज का देहावसान होगया।

तपस्वी जी के देहावसान के बाद एक साथ पांच व्यक्तियों ने दीक्षा ग्रहण करने के विचार प्रकट किये। उन में से तीन को योग्य समझ कर के दीक्षा दी गई, जिनका दीक्षा महोत्सव फाल्गुण शुक्ला १३ शनिवार को लाला जी ने किया, उन नवदीक्षित मुनियों के नाम क्रमशः देव ऋषि जी, राज ऋषि जी और उदय ऋषि जी रक्खे गये।

पश्चात् विकट पथ का ग्रीष्म ऋतु में अतिक्रमण करना नवदीक्षित साधुओं के लिये कठिन था, अतः बहुत दिनों से आग्रह करने वाले सिकंदराबाद के श्री संघ की विनती स्वीकार करके अगला चतुर्मास सिकंदराबाद में किया। ग्यारह रगिया वगैरा तपश्चर्या आदि खूब धर्म ध्यान हुआ।

चतुर्मास में राजा बहादुर लाला सुखदेवसहाय जी ने शास्त्रोद्धार का कार्यारंभ करने की प्रार्थना की, जिसे महाराज श्री ने स्वीकार कर लिया। तदनंतर प्रति दिन ७ घंटे लेखन कार्य करते हुए केवल ३ वर्षों में ३२ सूत्रों का सरल हिन्दी भाषा में अर्थ लिख दिया। इस ३ वर्ष के काल में महाराज श्री एक वक्त भोजन करते थे। राजाबहादुर लाला सुखदेवसहाय जी ज्वालाप्रसाद जी ने ४२०००) रु० का सद्व्यय करके सब शास्त्रों की १०००-१००० प्रतियें केवल ५ वर्ष में छपवाकर "लाला शास्त्र भण्डार" के नाम से सब साधुमार्गी क्षेत्रों में अमूल्य वितरण किये।

इस समय के बीच में सं० १९७२ के फाल्गुन मास में मोहन ऋषि जी की दीक्षा हुई। ये युवक मुनि ३ शास्त्र १५ थोकड़ों को कंठाग्र कर चुके थे, तथा संस्कृत में व्याकरण कोष न्याय काव्य इत्यादि विषयों को जानते थे। पर खेद है कि सं० १९७५ में चैत्र कृष्णा को महान तपस्वी

देव ऋषि जी और मोहन ऋषि जी का एक रात्रि में स्वर्ग वास होगया। सं० १९७४ के आश्विन मास में लाला सुखदेवसहाय जी भी जैन समाज को अश्रुमोचन करते हुए छोड़कर स्वर्गारोहण कर गये।

श्री अमोलक ऋषि जी महाराज ने शास्त्रोद्धार का कार्य समाप्त कर दिया। सं० १९७७ पोष शुक्ला २ को शास्त्रज्ञ सुश्रावक बाबू नवल-मलजी सूरजमल जी धोका (बैरिस्टर) की अनेक वर्षों से होने वाली प्रार्थना को स्वीकार करके यादगिरी नामक ग्राम को गये। यादगिरी में अनेक श्रावकों ने महाराज श्री को करनाटक में ही विचरणे का आग्रह किया, जिसे महाराज श्री टाल नहीं सके। करनाटक में विचरण करते हुए जैन, वैष्णव, इस्लाम एवं अन्य राज्य कर्मचारी लोगों को धर्म प्रेमी बनाये। आपने "रायचूर" भी चतुर्मास किया। धर्मोद्योत बहुत हुआ। सूबा साहब तक आपके व्याख्यानों का लाभ उठाते थे।

महाराज श्री की कीर्ति चन्द्रिकातुल्य व्याप्त होने लगी। बेंगलोर से ७० श्रावक महाराज श्री से बेंगलोर की तरफ विहार करने के लिये प्रार्थनार्थ आये। राजमान्य श्रीमान् सेठ श्री गिरधारीलाल जी अन्नराज जी साकला ने राय चूर से विहार के पश्चात् बेंगलोर में महाराज श्री के विराजने तक तन मन धन से सेवा करना स्वीकार किया। महाराज श्री भी धर्म लाभ का उत्तम अवसर देखकर परिषहों को सहते हुए भी २६७ मील का विहार करके बेंगलोर पधारे। आपके उपदेशों से १ जैन साधु मार्गी जैन पौषध शाला, २ जैन रत्न अमोल पाठशाला और ३ जैन पुस्त-कालय, इस प्रकार ३ संस्थाएं कायम हुई। ईरानखां गोस्तखां नामक दो कसाइयों ने जीव हिंसा के त्याग किये। वहां के जज साहब ने भी मांस भक्षण तथा जीव हिंसा के त्याग किये। १५०००) रुपयों का धर्मोन्नति फण्ड तथा ४४००) रुपयों का जीवदया फण्ड स्थापित किया गया। ग्यारह रंगिये, नवरंगिये आदि अनेक प्रकार की तपश्चर्या हुई।

अमीऋषि जी महाराज ने राजकोट से समाचार भेजे कि— अब आगे जाना उचित नहीं। अपनी सम्प्रदाय की स्थिति को देखिये तथा उसको उन्नतिशील बनाने में सहायता दीजिये। अहमद नगर से

श्री रत्न ऋषि जी महाराज ने भी शीघ्र लौट आने के लिये आज्ञा प्रदान की। इस प्रकार ज्येष्ठ मुनिवरों की आज्ञा का उल्लंघन नहीं हो सका, और अनेक परिसहों को सहन करते हुए ठाणा ३ से महाराष्ट्र देश की तरफ आना पड़ा। महाराज श्री के रायचूर पधारने पर हैदराबाद आदि शहरों से सकुटुम्ब रा० ब० लाला ज्वालाप्रशाद जी वगैरह महाराज श्री के दर्शनार्थ आये। सर्व श्रीसंघ ने हैदराबाद और करनाटक देश में विचरण करने के लिये साग्रह प्रार्थना की; किन्तु महाराज श्री ने यादगिरी जाना ज्यादा उचित समझकर यादगिरी पधारे।

रायचूर निवासी राज मान्य कच्छी मोमिन कम्मू शेठ जो कि महाराज श्री के अत्यधिक प्रेमी हैं, आये और रायचूर चतुर्मास करने के लिये साग्रह प्रार्थना करने लगे; किन्तु महाराज श्री ने स्वीकार नहीं किया और महाराष्ट्र देश में विचरण करने लिये विहार कर दिया। तब सूरजमल जी धोका पैदल यात्रा करके महाराज श्री को सोलापुर तक पहुंचाने आये।

महाराज श्री के गुलबर्गे पधारने पर जाहिर व्याख्यान हुआ। चौहाण वकील आदि सज्जनों के प्रयत्न से गोशाला की स्थापना हुई। सोलापुर में महावीर जयंती मोहत्सव मनाया गया। भाई सूरजमल जी यादगिरी के पश्चात अपने घर को चले गये। तदनंतर महाराज श्री करमाले पधारे। ये समाचार सुनकरके महाराष्ट्र देश में विहार करने वाले श्री रत्न ऋषि जी महाराज ठा० ३ से करमाले पधारे। महाराज श्री के स्वागत के लिये वहां के श्रावकों ने बाजारों में पताकाएं लगाई। अन्य ग्रामों के श्रावक श्राविकाएं महाराज श्री के दर्शनार्थ आये। महात्मा श्री रत्न ऋषि जी महाराज ठा० ३ से और शहर के सहस्रो श्रावक श्राविकाएं महाराज श्री के स्वागत के लिये १ माइल तक आये। जय ध्वनि और गायनों से गगन को गुंजारित करते हुए महाराज श्रीको नगर प्रवेश कराया। महाराज श्री के मधुर व्याख्यानों एवं शान्त्यादि अनेक गुणों से विनोदित होकर महाराज श्री को साग्रह प्रार्थना करके श्री संघने यहां का चतुर्मास करने के लिये स्वीकृति देने को बाधित किया।

यहां से ठा० ६ चिरम गांव पधारे। वहां पर लाला ज्वालाप्रसाद जी सकुटुम्ब महाराज श्री के दर्शनार्थ आये। पाथर्डी की संस्था को २५००) रुपयों का दान दिया। अहमदनगर का श्री संघ मिरज गांव आया और अमोलक ऋषि जी महाराज को अहमद नगर चतुर्मास करने के लिये आग्रह पूर्वक प्रार्थना करने लगा, किन्तु महाराज श्री ने स्वीकार नहीं किया। क्योंकि आप रत्न ऋषि जी महाराज के साथ चतुर्मास करना चाहते थे।

अगला चतुर्मास करमाले में किया गया। ७–८ हजार व्यक्ति महाराज श्री के दर्शनार्थ आये। "वर्द्धमान जैन पाठशाला" की स्थापना हुई, जोकि वुधमल जी मोहनलाल जी के आश्रय से चल रही है। श्रमणसूत्र युक्त प्रतिक्रमण, सद्धर्म बोध आदि पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। पूज्य श्री कान्हजी ऋषि जी महाराज के सम्प्रदाय के साधु साध्वियों का सम्मेलन फाल्गुण मास में करने का निश्चय किया गया। चतुर्मास के अनंतर श्री रत्न ऋषि जी महाराज ठा० ३ ने मिरज गांव की तरफ तथा श्री अमोलक ऋषि जी महाराज ठा० ३ ने जामखेड़ की तरफ विहार किया।

अरण गांव और जामखेड़ वालों ने महाराज श्री का स्वागत बड़े ठाठ के साथ किया, यहां से अष्टी पधारे। महाराज श्री के दर्शनार्थ महासतीजी श्री रंभा कंवरजी महाराज ठा० १२ तथा श्री नंदकंवर जी महाराज ठा० ३ से पधारी। ग्राम के बड़े रईस महाराज श्री के व्याख्यानों में आये और मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

यहां से कड़े ग्राम पधारे। महासतियों ने भी यहां ही आगमन किया। जैन पाठशाला एवं वोर्डिंग की स्थापना हुई। इन संस्थाओं में सनाथ एवं अनाथ बच्चों का पोषण तथा धार्मिक व्यावहारिक ज्ञान प्रदान होता रहा है।

वृद्ध महासतीजी श्री रामकंवरजी महाराज को महाराज श्री के दर्शनों की अत्युत्कट अभिलाषा थी, अतः महाराज श्री चीचोंड़ी होकर

मीरी पधारे। तदनंतर कुंड पधारे। यहां भीमराजजी चुन्नीलालजी के घर में भानसहिवड़े के गृहस्थ भानूजी की सं० १९८१ माघ शुक्ला ५ को दीक्षा हुई; जिनका संस्कारित नाम कल्याण ऋषिजी रक्खा गया।

पश्चात् महाराज श्री का मीरी आगमन हुआ। यहां बेंगलोर वाले कुन्दनमल जी मुलतानमल जी वोहरा की पुत्री और सिकंदरा बाद वाले सुगालचंद जी मकाणा की धर्म पत्नी सामर कंवर बाई की दीक्षा हुई। तदनंतर वाम्बोरी आये।

मनमाड़ में साधु सम्मेलन होने का निश्चय हो चुका था, किन्तु अमी ऋषि जी महाराज आदि साधु समुदाय नियमित समय पर नहीं पहुंच सका, क्योंकि मार्ग में कोई साधु के अस्वस्थ होगया, अतः सम्मेलन स्थगित रखा गया।

सोनई में साधु साध्वियों का आगमन हुआ और आचार्य पदवी आदि उपाधियों का वितरण करने का विचार किया गया। तब श्री अमी ऋषि जी महाराज की आज्ञा हुई कि यह कार्य अहमद नगर में होना चाहिये। तब साधु साध्वियों को अहमद नगर में एकत्रित होने के लिये प्रार्थना की गई। पूज्य श्री कहानजी ऋषि जी महाराज की संप्रदाय के १६ साधु ३६ आर्याएं तथा अन्य संप्रदाय के ५ साधु ५ आर्याएं एकत्रित हो गये। इस प्रकार ६२ ठाणों का सम्मेलन हुआ। अभिमान के गज पर आरूढ साधुओं के होने से इस सम्मेलन में सफलता नहीं मिल सकी।

तदनंतर महाराज श्री अमोलक ऋषि जी का घोड़नदी में चतुर्मास हुआ। यहां भी श्री शांति नाथ जैन पाठशाला की स्थापना हुई। ३-४ हजार आदमी दर्शनार्थ आये। धर्म वृद्धि भी उचित मात्रा में हुई।

मीरी (अहमद नगर) के गृहस्थ मुलतान मल जी की दीक्षा सं० १९८२ मार्ग शुक्ला पूर्णिमा को हुई; जिसका सम्पूर्ण व्यय राजाबहादुर सुखदेवसहाय जी ज्वालाप्रसाद जी हैदराबाद वालों की तरफ से हुआ। यहां से महाराज श्री पूना पधारे। यहां के श्रावकों ने महाराज

श्री को चतुर्मास करने के लिये प्रार्थना की। उसे स्वीकार करके आप चिंचवड बड़गांव पधारे। यहां पर श्री दौलत ऋषि जी महाराज के दो शिष्य, जिनका नाम चौथ ऋषि जी और रत्न ऋषि जी था, महाराज श्री की नेश्राय में रहने के लिये आये। इस प्रकार साधु ठाणा ७ और महासती राजकंवर जी ठाणा ७ का चतुर्मास पूना में हुआ। जैन पाठशाला की स्थापना हुई। महाराज श्री के दर्शन के लिये ४–५ हजार व्यक्ति आये। तपश्चर्या आदि समुचित हुई।

पूना का चतुर्मास समाप्त होने के पश्चात् महाराज श्री का घोड़नदी आगमन हुआ। यहां दो आर्यिकाओं की दीक्षा हुई। यहां से राहोरी होकर कोपर गांव आये, यहां पर सुना कि फूल गांव में आर्या रायकंवरजी अत्यंत रुग्ण हैं तथा संकट में हैं। इस प्रकार के समाचारों को सुनकर महाराज श्री सुलतान ऋषिजी के साथ फूल गांव गये। महासती श्री रंभा कंवर जी की सहायता से उन्हें कोपर गांव ले आये। रोग को असाध्य समझ कर के उनके भाव संथारा करने के हुए अतः संथारा कराया गया। ४३ दिन के संथारे के पश्चात् उनका स्वर्गवास हो गया। यहां के निवासी श्रावकों ने दर्शनार्थ आने वाले सज्जनों की अच्छी सेवा की।

यहां से आप मनमाड़ पधारे। श्री अमोलक ऋषि जी महाराज ठा० ५ और महासती जी श्री रंभाकंवरजी महाराज ठा० १३ इस प्रकार ठा० १८ का मनमाड़ में चतुर्मास हुआ। ८–१० हजार व्यक्ति दर्शनार्थ आये। छः उपवास से अधिक का तप १०० से अधिक हुआ। चतुर्मास के पश्चात् महाराज श्री ठा० ५ धुलिया पधारे। यहां श्री राज ऋषिजी महाराज नेत्र विहीन होगये तथा विहार के योग्य नहीं रहे तथा यहां के जैन संघ का आग्रह होने से चतुर्मास यहां ही किया गया। पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज के सम्प्रदायानुयायिनी महासती श्री महताब कंवर जी महाराज ठा० ४ का चतुर्मास भी यहां ही हुआ। ४–५ हजार व्यक्ति दर्शनार्थ आये। धर्म ध्यान अच्छा हुआ। मिती फाल्गुण कृष्णा ११ के दिन राज ऋषिजी महाराज का स्वर्गवास होगया। निर्वाणोत्सव श्रीमान् हेमराजजी पृथिवीराजजी की ओर से किया गया।

तदनंतर आप काशणे पधारे। यहां साधुओं में परस्पर वैमनस्य हो जाने से श्री अमोलक ऋषिजी महाराज अकेले रहे गये। यह समाचार धुलिया श्री संघ ने सुने। धुलिया के श्रावक विलाड़ि ग्राम आये और नालोद ग्राम लेगये। नालोद में घोड़ नदी के श्रावक लोग भी आगए और सब लोगों के अत्याग्रहपूर्ण प्रार्थना से महाराज श्री को धूलिया जाना पड़ा। तदनंतर महाराज श्री ने वन पर्वतादि में रहकर ध्यान और तपाचरण की इच्छा प्रगट की। श्रावकों ने सानुरोध महाराज श्री को वैसा करने से रोक दिया, तथापि निदाघ काल में भी दो दो चार दिन के व्रत करने प्रारंभ कर दिये। दो मास की तपश्चर्या के पश्चात् शरीर में गरमी चढ़ गई और नेत्र रोग से पीड़ित होगये अतः श्रावकों ने प्रार्थना की कि संयम का पालन करने के लिये नेत्रों की आवश्यक्ता है इसलिये तपश्चर्या छोड दीजिये। उक्त बात को ध्यान में लाकर महाराज श्री ने औपधोपचार किया

यह चतुर्मास भी धुलिया में ही हुआ। चतुर्मास समाप्त होजाने पर भी यहां के श्री संघ ने महाराज श्री को विहार नहीं करने दिया। यहां बोरकुण्ड वाली पद्मकंवर बाई की दीक्षा माघ मास में महासती सायर कंवर जी के पास हुई। दीक्षा महोत्सव धुलिया श्री संघ ने अच्छा किया।

जो तीन साधु महाराज श्री से वियुक्त होगये थे, उनमें से श्री कल्याण ऋषि जी और श्री सुलतान ऋषिजी महाराज सन्मति प्राप्त हो जाने से पुनः धूलिया आये। धूलिया श्री संघ के अत्यंत आग्रह से आषाढ़ शुक्ला १२ को उन्हें सम्मिलित किया, तृतीय चतुर्मास भी धूलिया में ही हुआ

चतुर्मास में महाराज श्री के संसार अवस्था के भाई श्रीमान् सेठ अमीचन्दजी कासटिया महाराज श्री के दर्शनार्थ आये तथा जैन संघ में धातु के प्यालों की प्रभावना दी। जैन शाला आदि में ४००) रूपयों का दान दिया।

हैदराबाद से श्रीमान् सेठ साहब जमनालाल जी रामलाल जी कीमती आये। रामलाल जी ने ब्रह्मचर्य व्रत का स्कंध स्वीकार किया। जैन तत्व प्रकाश और थोकड़े की पुस्तक छपवा कर अमूल्य वितरण की। गरीबों को वस्त्र-दान दिया। इसी प्रकार हैदराबाद से श्रीमान् धर्मात्मा रूपचंद जी जवाहरलालजी रामावत सकुटुम्ब दर्शनार्थ आये। तपश्चर्या की एवं सैंकड़ों रूपये दान पुण्य में लगाये। करीब १०००) भाई दर्शनार्थ आये, धर्म वृद्धि अच्छी हुई।

इन्हीं दिनों में मालव प्रान्तान्तर्गत दलोट ग्राम निवासी दो वणिक् व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करने के लिये आये। उनकी दीक्षा मिती मार्गशीर्ष कृष्णा ५ सं० १९८९ गुरुवार को हुई। उनका संस्कारित नाम श्री जयवन्त ऋषि जी और श्री शांति ऋषि जी रखा गया।

कियत् काल के पश्चात् वृहत्साधु-सम्मेलन करने की योजना हुई। उसी समय कारन्फरॅन्स की तरफ से यह घोषणा की गई कि जिन सम्प्रदायो में आचार्य न हो उन्हें संगठन करके आचार्य नियुक्त कर लेने चाहिये।

दक्षिणप्रान्त में विचरण करने वाले साधु साध्वियों का संगठन करने के लिये शास्त्रज्ञ श्रावक श्री किशनदास जी मूथा अहमद नगर वाले और श्रीमान् सेठ श्री मोतीरामजी मूथा सतारा वाले नियुक्त किये। दोनों सज्जन श्री अमोलक ऋषिजी महाराज श्री की सेवा में धूलिया आये और सम्प्रदाय का संगठन करने के लिये अर्ज करने लगे।

उक्त अवसर आने से पूर्व ही तपस्वी राज श्री देवजी ऋषि जी महाराज और आत्मार्थी श्री मोहन ऋषि जी महाराज ने भी यह सूचना देदी थी कि श्री अमोलक ऋषि जी महाराज को आचार्यपदविभूषित करना चाहिये। पण्डितरत्न आनंद ऋषिजी महाराज भी सन्निकट थे अतः आमंत्रण देने पर वे भी धूलिया पधार गये। सांप्रदायिक एकता के लिये साधु-समाचारी के ६१ नियम (कलम) लिखे गये। पूज्य पदवी का उत्सव किस स्थान पर करना चाहिये, इस बात का निर्णय करने के लिये

दानवीर सेठ श्री सरदारमलजी पुंगलिया नागपुर वाले और सौभाग्यमल जी जावरा वाले को तपस्वीराज देवजी ऋषिजी महाराज के पास भेजा। तपस्वी राज ने उक्त महोत्सव मालव प्रान्त में करने की सलाह दी, जिसे पण्डित रत्न आनंद ऋषिजी महाराज ने भी स्वीकृत करते हुये हर्ष प्रगट किया। तदनंतर पण्डितरत्न ने महाराज श्री को मालवे की तरफ विहार करने की सलाह दी और कहा कि मेरे भाव भी घोड़ नदी में श्री रामकंवरजी से मिलकर तथा साध्वियों की सलाह लेकर शीघ्र आने के हैं। पण्डित रत्न ने दो ठाणे से घोड़ नदी की ओर तथा श्री अमोलक ऋषि जी महाराज ने मालव प्रान्त की ओर विहार किया।

आप सिरपुर होते हुये गणेश घाट पर चढ कर सेंधवे पधारे। विन्ध्याचल पर्वतों को अतिक्रमण करके चैत्र शुक्ला पूर्णिमा को इन्दोर पधारे।

हैदराबाद निवासी दानवीर सेठ जमनालाल जी रामलालजी कीमती की दुकान इन्दोर में भी है। महाराज श्री का आगमन इन्दोर हो रहा है, ये समाचार जानकर, सेठ साहब ने इन्दोरस्थित मुनीमजी को तार द्वारा आचार्य पद महोत्सव इन्दोर में ही किया जाय, इसका महाराज जी से वचन लेने के लिये सूचना दी। इस पर इन्दोर का श्री संघ महाराजजी के स्वागत के लिये आया और उक्त विषयक प्रार्थना स्वीकृत कर डाली।

उक्त प्रार्थना के स्वीकृत होजाने के पश्चात् भोपाल से यह तार आया कि आचार्य पद महोत्सव भोपाल में करवाने की प्रार्थना करने के लिये वहां का श्री संघ आरहा है। संध्या के समय अमीचंद जी कामेठिया राजमल जी दोसी आदि भी आगये। आने के पश्चात उन्होंने सुना कि आचार्य पद महोत्सव की स्वीकृति हो चुकी है, अतः वे हताश हो गये। क्यों कि अमीचंद जी कामठिया, जो कि महाराज श्री के सांसारिक भाई हैं, अपने व्यय से वह महोत्सव भोपाल में ही देखना ज्यादा पसंद करते थे। उन्हें प्रसन्न रखने के लिये महाराज श्री ने आचार्यपद महोत्सव के पश्चात प्रथम चतुर्मास भोपाल में करने की स्वीकृति

प्रदान करदी।

आत्मार्थी श्री मोहन ऋषि जी महाराज और श्री विनय ऋषि जी महाराज बगड़ी (मारवाड़) से विहार करके २१ दिनों में इन्दोर पधारे। तपस्वीराज देवजी ऋषि जी महाराज ठा० ४ नागपुर से विहार करके अतिशीघ्र आये। तदनंतर पण्डित रत्न आनंद ऋषि जी महाराज ठा० २ दक्षिण प्रान्त से अतित्वरता से आये। महासती श्री रत्न कंवर जी महाराज ठा० १२ से आई। इस प्रकार १४ साधु और १२ आर्यिकाएँ ऋषि सम्प्रदायानुयायी थीं। पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज के सम्प्रदाय के प्रवर्तक मुनि श्री ताराचंद जी म० ठा० १६ एतत् सम्प्रदायानुयायिनी आर्यिका श्री मेन कुंवर जी महाराज ठा० १५ पूज्य श्री हस्तीमल जी महाराज के संत श्री लाभचंद जी महाराज ठा० ३ और पूज्य श्री मन्ना-लाल जी महाराज के संत श्री सेंहमल जी महाराज ठा० ३ भी उपस्थित थे। इस प्रकार ३६ साधु और २७ साध्वियें कुल ६३ ठाणा इन्दोर में आचार्य पद महोत्सव के समय में उपस्थित थे।

आमंत्रण पत्र के पहुंचने पर मालवा, मेवाड़, मारवाड़, खानदेश, दक्षिण, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, करनाटक, तैलंग, पंजाब आदि प्रान्तों से प्रायः १००० व्यक्ति उक्त उत्सव में सम्मिलित होने के लिये आये।

मिती ज्येष्ठ शुक्ला १२ बुधवार संवत् १९८९ के शुभ दिन इतवारिया बाजार में रावराजा सेठ हुकमचंद जी की धर्मशाला में ५००० जनता के समक्ष चारों तीर्थों ने श्री अमोलक ऋषि जी महाराज को शुद्ध स्वदेशी चद्दर प्रदान करके ऋषि सम्प्रदाय का आचार्य बनाया। जनता हर्ष प्रकट करने के लिये गगनभेदी नाद द्वारा पूज्य श्री की जय कार का उच्चारण करने लगी।

ग्रामान्तर से आई हुई जनता के लिये श्रीमान जमनालाल जी रामलाल जी कीमती की ओर से भोजन की व्यवस्था की गई थी। उक्त कार्य में लाला ज्वालाप्रसाद जी ने भी आदि से अन्त तक बहुत

परिश्रम उठाया। उसी दिन मध्याह्न काल में ऋषि श्रावक समिति की स्थापना की गई। जैन समाज भूषण लाला ज्वालाप्रसाद जी एवं दानवीर सेठ सरदारमल जी पुंगलिया समिति के संरक्षक बने। ब्यावर गुरुकुल की ओर से अपील होने पर लाला जी साहब ने २५०१) रुपये तथा सरदारमल जी पुंगलिया ने २००१) रुपये गुरुकुल में मकान बनवाने के लिये दिये।

इस प्रकार आचार्य पद महोत्सव सानंद सम्पन्न हुआ। सर्व मुनि लोग अपने चतुर्मास के लिये निश्चित स्थानों की ओर विहार करने लगे। पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज ठा० ११ देवास, मकसी, माहजापुर होकर शुजालपुर पधारे। यहां तपस्वीराज श्री देव जी ऋषि जी महाराज चतुर्मास करने के लिये ठाणा ६ से ठहर गये और पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी सीहोर होकर भोपाल पधारे। मूर्ति पूजक, स्थानक वासी जैनों के अतिरिक्त अजैनों ने भी आपका बड़ा अच्छा स्वागत किया। मोढ़ों के रमणीक एवं सुविशाल जैन स्थानक में आप विराजमान हुए।

पूज्य श्री के व्याख्यानों से जैन जैनेतर जनता ने खासा लाभ उठाया। कई अजैन जैन बने। अठाइयें आदि तपश्चर्या भी बहुत हुई। ऋषि श्रावक समिति के मंत्री धीरजलाल भाई तुरखिया पूज्यश्री की सेवा में रहते थे। समिति को हजारों रुपयों का दान मिला।

बृहत्साधु सम्मेलन के लिये सम्मति प्राप्त करने को प्रतिष्ठित स्थानक वासी श्रावकों का डेप्युटेशन आया, और भी सैकड़ों नर नारी पूज्य श्री के दर्शनार्थ आये। ग्रामान्तर से आये हुए भाइयों के लिये भोजन आदि का खर्च एवं पढ़ाने वाले पण्डित का वेतन श्रीमान् अमीचंद जी कांसठिया ने ही प्रदान किया। इस प्रकार चतुर्मास सानंद समाप्त हो गया।

तदनंतर बृहत्साधुसम्मेलन में सम्मिलित होने के लिये पूज्य श्री ने अजमेर की ओर विहार किया। सिहोर होकर शुजाल पुर आये। यहां मार्ग शीर्ष कृष्णा ११ को चार दीक्षा हुई; जिन में ३ साधु और

एक साध्वी बनी। उनमें से श्री कांति ऋषिजी श्री सखा ऋषिजी महाराज के, श्री अक्षय ऋषिजी श्री तपस्वीराज देवजी ऋषिजी महाराज के, और श्री फतेह ऋषिजी पूज्य श्री जी के शिष्य बने। श्री सूरजकंवरजी श्री मेना जी की शिष्य बनी। इस अवसर पर इन्दोर का चतुर्मास समाप्त करके आत्मार्थी मोहन ऋषिजी महाराज भी यहां पधार गये। यहां से शाजापुर आये। नवदीक्षितों को बड़ी दीक्षा दी गई। यहां से उज्जैन आये।

पूज्य श्री के उज्जैन पधारने पर प्रतापगढ़ और मन्दसोर से दो तार आये कि वृद्ध महासती श्री हमीरांजी अत्यंत बीमार हैं और आपके दर्शन की इच्छुक हैं। पूज्यश्री शीघ्र विहार करके जावरा होकर प्रतापगढ़ पधारे। इस प्रकार १०० माइल का विहार ७ दिन में समाप्त किया, वृद्ध महासती जी अत्यंत प्रसन्न हुई।

वृद्ध महासतीजी साध्वियों का संगठन करने तथा पूज्य श्री के आदेश को शिरोधार्य करने का आदेश देकर, चार घंटे के संथारे के पश्चात् समाधि मरण पूर्वक स्वर्ग सिधारी। अग्नि संस्कार के पश्चात् ससूत्र मुखवस्त्रिका एवं चोलपट्टक का एक वस्त्रखण्ड विना जले हुए निकले—इससे जनता में आश्चर्य का प्रवेश हो गया।

तदनंतर मालव प्रान्त में विचरण करने वाली साध्वियों का सम्मेलन हुआ। उस समय पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज, तपस्वीराज श्री देवजी ऋषिजी महाराज, पण्डित रत्न आनंद ऋषिजी महाराज आदि १६ ठाणा साधु और श्री कस्तूरांजी, श्री सरदारांजी, श्री रत्नकंवर जी श्री हगामाजी आदि ३४ साध्वियें उपस्थित थीं।

उक्त साध्वी सम्मेलन की सभा मिति पोष शुक्ला १२ को पूज्य श्री की अध्यक्षता में हुई। सैंकड़ों जैन जैनेतरों की उपस्थिति थी। १५ प्रस्ताव सर्व सम्मति से स्वीकृत हुए।

यहां से नींमच, जावद, निम्बाहड़ा, चितौड़ होते हुये भीलवाड़े पधारे। यहां शास्त्र विशारद पूज्य श्री मन्नालाल जी महाराज ठाणा १५ से विराजमान थे। गणी गुणालंकृत श्री खूबचंद जी महाराज, प्रसिद्ध-

वक्ता श्री चौथमलजी महाराज आदि संत पूज्य श्री के स्वागतार्थ पधारे। सब सन्तों का एक ही स्थानक में विराजमान होना अत्यंत रमणीक प्रतीत होता था।

श्रीमान् लाला ज्वालाप्रसादजी श्रीमान् सरदारमलजी सुज्ञ श्रावक धीरजलालजी भाई आदि सैंकड़ों श्रावक श्राविका दर्शनार्थ आये। यहां से ब्यावर (नया शहर) पधारे यहां साधुओं का बृहत्समुदाय सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिये एकत्रित होगया। यहां से खारवे आये। यहां पूज्य श्री मन्नालालजी महाराज और पूज्य श्री जवाहरलाल जी महाराज का पारस्परिक वैमनस्य मिटाने के लिये दोनों पक्षों की सम्मति से पांच पंच नियुक्त किये गये।

पंचों के नाम इस प्रकार से हैं—

(१) पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज। (२) पण्डितराज श्री मणिलालजी महाराज। (३) कविराज श्री नानचन्द्रजी महाराज। (४) शतावधानी श्री रत्नचन्द्रजी महाराज। (५) युवाचार्य श्री काशीरामजी महाराज। उक्त पंचों ने दोनों पक्षों के पारस्परिक विरोध को मिटाकर द्वादश संभोग सम्मिलित करवा दिये।

चैत्र शुक्ला दशमी बुधवार को शताधिक साधु और २०—२५ हजार जनता बड़े समारोहपूर्वक अजमेर शहर के प्रमुख बाजारों से होती हुई ममइये के विशाल भवन में आई। विराट सभा में मंगलाचरण स्वरूप मुख्य २ मुनिवरों के भाषण हुए। पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज ने नन्दी सूत्र की स्थविरावली सुना करके सम्मेलन की सफलता के लिये सारगर्भित व्याख्यान दिया, जो पुस्तकाकार छप चुका है।

इसी भवन में पृथक् २ विभागों में मुनिगण विराजमान हुए। भवन के पिछले विभाग में एक सुन्दर न्यग्रोध (वट) तरु परिमण्डलाकार सुशोभित है। उक्त वृक्ष के नीचे ७८ प्रतिनिधि साधुओं की वृत्ताकार सभा प्रति दिन प्रातः ८ से ११—पुनः मध्याह्न ११ से ४ और रात्रि को ८ से १० तक सभा होती थी। जिसमें ज्ञान दर्शन चारित्र एवं समालोचनादि आदि विविध विषयों पर व्याख्यान तथा वाद विवाद होते थे,

जिनसे अत्यानंद आता था। स्थानक वासी जैन समाज की उन्नति के लिये कई उपयोगी नियम निर्धारित किये गये।

वैशाख शुक्ला २ सं० १९९० को धूलिया निवासी स्वर्णकार हरिचन्द्रजी की दीक्षा हुई। इनका संस्कारित नाम हरि ऋषिजी रखा गया। दीक्षा महोत्सव का सम्पूर्ण व्यय जैन समाज भूषण लाला ज्वालाप्रसाद जी की ओर से हुआ। दीक्षा स्थल पर अनुमानतः ३०० साधु-साध्वी और १००० जनता उपस्थित थी।

मारवाड़ प्रान्तान्तर्गत सादड़ी में २५० घर स्थानक वासी भाइयों के हैं। वहां के शेष मूर्तिपूजक व्यक्तियों ने स्थानक-वासियों से सामाजिक संबंध को तोड़कर उन्हें तंग करना प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार की व्यथा से व्यथित होकर वहाँ के स्थानकवासी-भाइयों ने सम्मेलन में कई मुनिराजों को वहां चतुर्मास करके उनके दुःख मिटाने की प्रार्थना की। किन्तु कोई भी मुनिराज उक्त कार्य को अपने हाथ में लेना नहीं चाहते थे।

पण्डित रत्न आनंद ऋपिजी का प्रकृतिकोमल हृदय उनके दुःखों को सुनकर दयार्द्र होगया और पूज्य श्री अमोलक ऋपिजी महाराज को सादड़ी में चतुर्मास करने के लिये साग्रह प्रार्थना करके पूज्य श्रीकी वहां का चतुर्मास करने की स्वीकृति प्राप्त करली।

श्री हरि ऋपिजी को बड़ी दीक्षा देकर पूज्य श्री ने अजमेर से विहार किया। ब्यावर, रायपुर, वगड़ी, सोजत, और पाली होते हुए मिती आपाढ शुक्ला ३ को पूज्य श्री का सादड़ी में शुभागन हुआ। आप ताराचन्दजी के स्थानक में विराजे।

पूज्य श्री से ज्ञानादि गुणों का लाभ प्राप्त करने के लिये प्रवर्तिनी श्री रत्नकंवरजी ने भी ठा० ९ से सादड़ी चतुर्मास किया। तपश्चर्या एवं धर्म ध्यान अत्यधिक हुआ। ऋपि श्रावक समिति को उचित सहायता मिली। मारवाड़, मेवाड़, मालवा, दक्षिण, गुजरात, पंजाब आदि प्रान्तों से सैकड़ों व्यक्ति पूज्य श्री के दर्शनार्थ आये।

साधु सम्मेलन के नियमों का प्रतिपालन कराने के लिये जो डेप्युटेशन निकला, जिनमें हेमचन्द भाई, दुर्लभजी भाई आदि मुख्य थे- प्रारंभ में मंगलाचरण स्वरूप पूज्य श्री के दर्शनार्थ सादड़ी आया।

जैन समाज भूषण लाला ज्वालाप्रसादजी पूज्य श्री के दर्शन करने के लिये सादड़ी आये। लालाजी ने महाराज श्री को महेन्द्रगढ़ की ओर विहार करने के लिये प्रार्थना की। पूज्य श्री ने महेन्द्रगढ़ की ओर विहार करने में विशेष लाभ समझ करके महेन्द्रगढ़ की ओर ही विहार किया।

सांडेराव नामक ग्राम में पूज्य श्री का आगमन हुआ। यहां दुर्लभजी त्रिभुवनजी जोहरी का पत्र मिला, जिसमें लिखा था कि-जयपुर में शास्त्र संशोधन के लिये साधुओं की एक सभा होने वाली है-जिसमें आप का सम्मिलित होना अत्यंत आवश्यक है-अतः आपको शीघ्र जयपुर पधारने का निमंत्रण है।

यहां से पाली पधारे। पाली में आत्मार्थी मोहन ऋपिजी म० ठा० २ उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज ठा० ५ पण्डितराज श्री मणीलालजी महाराज ठा० ६ का सम्मेलन हुआ। शास्त्र संशोधन के लिये परस्पर विचार विमर्श हुआ।

यहां से जोधपुर पधारे। यहां श्री रामलालजी महाराज ठा० ३ मिले। जोधपुर से क्रमशः विहार करते हुए पीपाड़ में पूज्य श्री का आगमन हुआ, यहां श्री माणक ऋपिजी महाराज ठा० २ मिले। सर्व सन्तों के साथ पूज्य श्री मेड़ते पधारे। यहां पर पूर्वजों की हवेली देखी, तदनंतर पुष्कर जी में आने पर ब्रम्हाजी के मन्दिर में अत्यंत प्राचीन ऋषभदेवजी का चित्र देखा-जिनके मुख पर मुखवस्त्रिका बंधी हुई थी। पश्चात अजमेर पधारे। यहां पण्डितराज श्री घासीलाल जी महाराज ठा० ८ मिले।

इस प्रकार किशनगढ़ होते हुए जयपुर पधारे। पूज्य श्री के स्वागत के लिये उपाध्याय आत्मारामजी महाराज, शतावधानी श्री रत्नचन्द्रजी महाराज, युवाचार्य श्री काशीरामजी महाराज, आदि सर्व-

साधु मण्डल और सैकड़ों नरनारी आये। सब सन्त जौंहरी काशीरामजी की हवेली में ठहरे।

प्रातः काल ८ से १० बजे तक और मध्याह्न काल में १ से ४ बजे तक साधुओं की सभा होती थी, जिसमें शास्त्रान्तर्गत संशयास्पद स्थलों पर सविवेचन निर्णय होता था।

राम बाग का चिड़िया घर और अजायबघर देखे। लाला ज्वालाप्रसादजी दर्शनार्थ आये। तदनंतर यहां से विहार करके रिंगस खंडेले होते हुए नीमके थाणे आये। यहां सिद्धहस्त लेखक कविराज अमरचन्द्रजी और स्वद्दर प्रिय श्रीचद्रजी महाराज से सम्मेलन हुआ—जोकि प्रतापीपूज्य श्री मोतीरामजी महाराज द्वारा महेन्द्रगढ़ से पूज्य श्री के स्वागत के लिये भेजे गये थे।

सब संत नारनौल होकर महेन्द्रगढ़ पधारे। यहां पण्डित रत्न श्री पृथिवींचंद्रजी महाराज श्री श्यामलालजी महाराज आदि मुनिवर तथा लाला जी का सकल परिवार एवं अन्य जन समुदाय पूज्य श्री के स्वागत के लिये आया।

पूज्य श्री स्थानक में पधारे। यहां प्रतापी पूज्य श्री मोतीरामजी महाराज के दर्शन किये। दोनों पूज्य एक पाट पर विराज कर मंगलाचरण फरमाया। यह दृश्य बड़ा रमणीक था। पूज्य श्री लालाजी के अतिथि भवन में बिराजे।

पूज्य श्री महेन्द्रगढ़ में ९ महीना ९ दिन विराजे। इस बृहत्काल में श्रीमद् भगवती सूत्र सम्पूर्ण तथा अनेक चरित्र व्याख्यान में कहे गये। व्याख्यान में लालाजी एवं उनका सकल परिवार आया करता था। उनके अतिरिक्त अनेक जैन जैनेतरों ने व्याख्यान का लाभ उठाया। लालाजी ने महाराज श्री के व्याख्यानों का लाभ लेने के लिये पंचकूला एवं हैद्राबाद आदि शहरों से अपने परिचितों को आमंत्रण देकर बुला लिया। कडा आदि संस्थाओं को लालाजी ने दान देकर उपकृत किया। इस प्रकार ७–८ हजार रूपैयों का व्यय सत्कार्य में किया गया। तपश्चर्या भी आशातीत हुई।

चतुर्मास में देहली श्री संघने पूज्य श्री को देहली की ओर विहार करने के लिये प्रार्थना की अतः चतुर्मास समाप्त होने पर पूज्यश्री ने देहली को विहार किया। पूज्यश्री के पाटोदी पहुंचने पर लाला ज्वालाप्रसादजी सपरिवार दर्शनार्थ आये। यहां से गुड़गांवा (छावनी) होते हुए महरोली (कुतुब) आये। पूज्य श्री के स्वागत के लिये युवाचार्य श्री काशीरामजी महाराज अपनी शिष्य मण्डली सहित कुतुब पधारे। यहां से चिराग देहली और नई देहली होते हुए शहर में पधारे। पूज्य श्री के स्वागत के लिये जन समूह उमड़ पड़ा था। पूज्य श्री महावीर भवन में विराजमान हुए। यहां के श्रोता विज्ञ होने से पूज्यश्री व्याख्यानों का अच्छा रस लेते थे।

तदनंतर पूज्य श्री ने सदर सब्जी मंडी नये बाजार में कुछ कुछ दिन व्यतीत किये, जिससे पूज्य श्री के व्याख्यानों की धूम लग गई।

तदनंतर पूज्य श्री की इच्छा आगरा होकर मालवा एवं दक्षिण प्रान्त में जाने की थी; किन्तु यु० पी (जमना पार) और पंजाब के अनुमानतः ४०० व्यक्तियों ने पूज्य श्री को यू० पी० और पंजाब में विहार करने के लिये प्रार्थना की।

पूज्य श्रीने यु० पी० की तरफ विहार किया। लोहारा सराय, बागपत, हिलवाड़ी, बामनोली, एलम, कांदला, गंगेरू, तीतरवाड़ा, आदि ग्रामों में विहार करते हुए नावों के पुल से जमनापार होकर पंजाब पधारे। उक्त यू० पी० के स्थानकों पर मन्दिरों के समान स्वर्ण कलश सुशोभित हैं। यद्यपि इस प्रान्त में मूर्ति पूजक जैनों का बाहुल्य है–तथापि स्थानक वासियों का मर्यादा ऊंचा ही रहता है।

इस प्रकार पूज्य श्री करनाल, अम्बाला, पटियाला, होकर नाभा पधारे। यहां पण्डित रामस्वरूपजी, कवि अमरचंदजी एवं महासती द्रौपदीजी ठा० ८ का परस्पर सम्मिलन हुआ। तदनंतर मलेर कोटला आये। यहां श्री फकीरचन्दजी फूलचंदजी एवं शतावधानी श्री रत्नचन्द्रजी, तथा युवाचार्य काशीरामजी महाराज से मिलन हुआ। यहां से रामपुर होकर लुधियाने पधारे। यहां स्थविर श्री जयरामदासजी म० श्री

सालगरामजी म० विराजमान थे। उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज शतावधानी जी एवं युवाचार्य जी श्रावक श्राविकाओं सहित पूज्य श्री के स्वागत के लिये पधारे। सर्व सन्त प्रेम के साथ एक भवन में विराजमान हुए।

यहां से पूज्य श्री की इच्छा पंचकूला गुरुकुल की ओर जाने की थी, किन्तु अमृतसर से २१ श्रावकों का डेप्यूटेशन पूज्य श्री के दर्शनार्थ आया और अर्ज करने लगा कि—अमृतसर में पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज आप से मिलना चाहते हैं। अतः अमृतसर पधारें।

पूज्य श्री वयोवृद्ध श्री सोहनलाल जी महाराज की गुरुतम आज्ञा को नहीं टाल सके और अमृतसर की ओर विहार कर दिया। फगवाड़े होकर जालंधर पधारे। यहां पूज्य श्री को स्थविरपदविभूषिता विदुषी महासती श्री पार्वतीजी के साथ ११ घंटे तक शास्त्रीय चर्चा का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लाला ज्वालाप्रसादजी यहां पर पूज्य श्री के दर्शनार्थ आये।

यहां से विहार करने पर कपूरथले में वृद्ध संत नारायणदासजी म० पं० नृपतरामजी म० से मिलन हुआ। तदनंतर गुरू के जंडियाले पधारे। यहां कई वर्षों से पत्री का और परम्परा का झगड़ा—जो कि श्रावकों में पड़ा हुआ था उसे मिटाया और परस्पर प्रेम करवा दिया।

तदुपरांत पूज्य श्री अमृतसर पधारे। यहां श्रीमान् गेंदामलजी के बगीचे में ठहरे। साथ में युवाचार्य काशीरामजी भी थे। शहर में सूचना पहुंचने पर जन समूह उमड़ आया। पूज्य श्री सोहनलालजी म० के कई संत पूज्य श्री के स्वागत के लिये आये। पूज्य श्री अपनी शिष्य मण्डली सहित पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज की सेवा में विराजे। तीन दिन तक दोनों पूज्यों का परस्पर प्रेमालाप अति दर्शनीय एवं यह दृश्य जैन इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित किये जाने योग्य है।

तदनंतर जालंधर, बंगिया, नया शहर, राहो, बलाचोर, होते हुये रोपड़ पधारे। यहां उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज ने अपने शिष्य मण्डल एवं श्रावक श्राविकाओं को साथ लेकर पूज्य श्री का स्वागत किया।

यहां से सर्व सन्तों ने खरड़ होकर पंचकूला के लिये प्रस्थान किया। लाला ज्वालाप्रसाद जी सेठ जमनालाल जी एवं कर्मचारियों सहित गुरुकुल के छात्रों ने पूज्य श्री प्रमुख साधु मण्डल का सादर स्वागत किया।

जैनेन्द्र गुरुकुल के भव्य सामायिक भवन में जो कि साहित्य भवन से युक्त है और जिसके निर्माण के लिये लाला ज्वालाप्रसाद जी ने अनुमातः १२०००) रुपये व्यय किये हैं, मुनिमण्डल ने निवास किया। गुरुकुल का प्रशांत वातावरण मनो मोहक है। कल कल निनाद करने वाले छोटे २ झरने अविरल गति से प्रवाहित होते रहते हैं। पक्षियों का मधुर संगीत मन को आनंदित किये विना नहीं रह सकता। ब्रह्मचारी मण्डल शारीरिक मानसिक और अध्यात्मिक उन्नति के लिये सर्वदा प्रयत्न शील देखा गया है। इस भयावह जंगल में गुरुकुल द्वारा मंगल स्थापित किया गया है। गुरुकुल के सामने से पकी डांम्भर की सड़क तथा रेलवे लाईन शिमला तक जाती है। अतः यह स्थान अत्यंत सुन्दर प्रतीत होता है।

वैशाख कृष्णा २-३-४ को गुरुकुल का सप्तम वार्षिकोत्सव था। अनुमानतः १०००-११ सो व्यक्ति उत्सव में सम्मिलित होने के लिये आये थे। पूज्य श्री एवं उपाध्याय जी महाराज के व्याख्यानों का जनताने खूब लाभ उठाया। जैन समाज की सुप्रसिद्ध महिला श्रीमती लेखवती जैन बी. ए., एम. एल. सी. भी उत्सव में सम्मिलित थी। उक्त महिला की अपील से १४०००) रुपयों की एक भारी रकम गुरुकुल को दानस्वरूप प्राप्त हुई। विद्यार्थियों के भाषण एवं गायन भी जनसमूह को आकर्षित किये बिना नहीं रहे।

उक्त उत्सव में सम्मिलित होने वाले श्रावक श्राविकाओं ने पूज्य श्री को अपने अपने शहरों में चतुर्मास करने के लिये साग्रह प्रार्थना की-किन्तु देहली वालों की प्रार्थना को स्वीकार किया।

तदनंतर शिमला के श्रावकों की विनती, उपाध्याय जी की प्रेरणा और शिमला देखने की लालसा ने पूज्य श्री को शिमला की ओर प्रस्थान करने के लिये बाध्य कर दिया। पंचकूला गुरुकुल से बिहार करके पिंजोर आये। यहां पटियाला नरेश द्वारा निर्मित विशाल सप्त मँजला बगीचा है, जो कि अत्यंत सुन्दर एवं दर्शनीय है।

यहां से कालका आये। और यहां के स्थानक में निवास किया।

यहां से पूज्य श्री एवं उपाध्यायजी प्रमुख सन्त शिमला के लिये रवाना हुए। यहां से शिमला ५५ माइल है जिसमें ४५ माइल की चढाई और १० माइल का उतार है।

कालका से शिमला तक का प्राकृतिक दृश्य अति रमणीक है। सर्पाकार चलने वाली सड़क और १०३ सुरंगों में प्रवेश करके चलने वाली रेल की पटड़ियें बड़ी मनोहर मालूम होती हैं। छोटे २ झरने कल कल स्वर से मधुर संगीत गाते हुए प्रतीत होते हैं। एक ओर विशाल काय उत्तंग शिखरों वाला भूधर और दूसरी ओर अति गहरा गर्त हृदय में विचित्र भावों का संचार करते हैं। गिरि निकुंजों से बहने वाला शीतल मन्द-समीर मुनिजन के अंग स्पर्श करके मानों प्रणाम करता हुआ प्रतीत होता था। मुनियों के आगमन से पक्षी मण्डल मानों हर्षोत्फुल्लित होगया क्यों कि वह उनके आगमन में स्वागत गान गारहा था। मेघ घटाएँ पर्वत से टकरा कर पर्वत को टुकड़े २ कर देना चाहती हैं; ऐसा प्रतीत होता था कि-मानों वे नगकी उच्चता से विद्वेष करती हैं।

इस प्रकार मनोरम दृश्यों का आनंद लेते हुए साधु मण्डली कसौली धर्मपुर, सोलन, कंडाघाट, सोगी, और तार देवी से विश्रांति प्राप्त करती हुई शिमला-शिखर पर पहुंची। सर्व सन्त मालरोड़ पर स्थित विशाल दिगम्बर जैन धर्म शाला के चतुर्थ खण्ड में विराजे। यह समय भारत सम्राट पंचम जार्ज की रजत जयंती का था। अतः शिमला की चौगुनी शोभा बढ गई थी। सहस्रस्वर का बाजा एवं पलटन इत्यादि अपूर्व वस्तुएँ दृष्टि गत हुईं।

शिमला शाही निवास स्थान है। धनिकों की विशाल भूमि है। यहां की शोभा अति मनोरम है। शीतल पवन और मोहक दृश्य हृदय को आनंदित करने वाले हैं। एक और पूंजी पतियों के विशाल काय मन्दिर विलासिता का मधुर संगीत सुना रहे हैं। दूसरी ओर रिक्शा खींचने वाले मजूरों का दृश्य कंगाली का नग्न नृत्य करता है।

जैन समाज भूषण लाला ज्वालाप्रसादजी सपरिवार पूज्य श्री के दर्शनार्थ आये। पूज्य श्री का जाहिर व्याख्यान Public lecture हुआ। लालाजीने धर्मशाला के फण्ड में २५१) रूपैये दिये। तदनंतर मुनि मण्डली विहार करके पुनः पंचकूला आई।

यहां कई दिनों तक व्याख्यानों का ठाठ रहा। पश्चात् उपाध्याय आत्मारामजी महाराज ने लुधियाने की ओर, पूज्य श्री ने देहली की ओर विहार किया। अम्वाला, कुरुक्षेत्र होते हुए करनाल पधारे, यहां लाला ज्वालाप्रसादजी दर्शनार्थ पधारे। यहां से बरसत, पानीपत, देहरा होकर राकसखेड़ा पधारे। राकसखेड़ा के कुम्भकार, स्वर्णकार, दरजी प्रमुख, जातियां भी साधुमार्गी धर्म का प्रति पालन करने वाली हैं। तदनंतर राजखेड़ा, बड़ाखेड़ा एवं सब्जी मण्डी होकर सि० आषाढ शुक्ला २ बुधवार को चांदनी चौक देहली पधारे। पूज्य श्री के यहां के स्वागत के लिये कुछ लिखना पिष्टपेषण मात्र होगा। यहां महावीर भवन में विराज मान हुए।

इस प्रकार पूज्य श्री को देहली से यू० पी० पंजाब आदि प्रान्तों में परिभ्रमण करके पुनः देहली आने में अनुमानतः १००० माइल का दीर्घ विहार हुआ। सब क्षेत्रों में २-३ दिन से अधिक नहीं ठहरे। पूज्य श्रीका सब क्षेत्रों में स्वासा स्वागत हुआ। एवं धर्म का उद्योत भी अच्छा हुआ। प्रभावना भी अच्छी वितरण की जाती थी। यद्यपि लाहोर स्यालकोट, जम्मू रावलपीण्डी आदि शहरों के श्रावकों ने पूज्य श्री को उक्त शहरों को स्पर्श करने के लिये साग्रह प्रार्थना की किन्तु विवशता के कारण पूज्य श्री उक्त क्षेत्रों में नहीं जा सके; क्योंकि ऋषि सम्प्रदाय के साधूओं का सम्मेलन ३-३ वर्षों में होना चाहिये-ऐसा

नियम है। यदि वह सम्मेलन चार वर्ष में भी नहीं होगा तो अनुचित होगा।

देहली भारत का केन्द्रस्थान है। यहां भारत के विभिन्न प्रान्तों से आने वाले श्रावकों ने भी पूज्य श्री के व्याख्यानों का अच्छा लाभ उठाया। प्रवर्तिनी श्री रत्न कंवरजी महाराज ठा० ८ ने भी यहां ही चतुर्मास किया। लाला जी ने भी व्याख्यानों का लाभ उठाने के लिये किराये पर मकान लेकर देहली में ही निवास किया—आपने इन दिनों में अनेक संस्थाओं को सहायता तथा गरीबों के गुप्त दान दिया।

पूज्य श्री यहां श्रोताओं की इच्छानुसार भगवती सूत्र का २० वां शतक फरमाते थे और श्री कल्याण ऋषि जी व्याख्यान में भीमसेण हरिसेण चरित्र फरमाते थे। पर्यूषण पर्व में अन्तगढ सूत्र सम्पूर्ण फरमाया।

संवत्सरी के दिन ५००-७०० श्रोताओं के बीच में महावीर जैन स्कूल के प्रधानाध्यापक श्रीमान् गिरधारीलाल जी ने यह प्रस्ताव रक्खा कि "पूज्य श्री के उपकारों और व्याख्यानों को देखते हुए आपकी प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाना है। आपके अनुवादित शास्त्रों और लिखित ग्रंथों से जैन समाज का जो भारी उपकार हुआ है वह जैन इतिहास के लिये मूल्य वान सामग्री है। हमारी यह सभा आपके ऋण से उऋण होने के लिये कुछ भी नहीं कर सकती है। जिस प्रकार से सुदामा के तन्दुल श्री कृष्ण के लिये कम आदर की वस्तु नहीं थी, अतः यह सभा आप की सेवा में "जैन दिवाकर" की पदवी प्रदान करती है। आशा है आप इसे स्वीकार करेंगे।" पश्चात् सारी सभा ने उसका समर्थन किया।

तत्पश्चात् पूज्य श्री ने फरमाया कि यह गुरुतर भार आप मेरे कन्धों पर किस लिये रख रहे हैं। सेवक में यह भार वहने की क्षमता नहीं है। एक आचार्य पद भी पूरी तरह से निभजाय तो सौभाग्य की बात समझूंगा।

तदनंतर आलोचना का पाठ सुनाया। इस प्रकार सानंद पर्युषण पर्व समाप्त हुआ। पर्युषण की तपश्चर्या का वर्णन करना व्यर्थ है; क्योंकि

पूज्य श्री के प्रताप से तपश्चर्या का ठाठ लगा हुआ था। यहां के वृद्ध श्रावकों का कहना है कि ऐसा तप १५ वर्षों में कभी नहीं हुआ।

पूज्य श्री के दर्शन के लिये पंजाब, यू० पी० हरियाणा, मारवाड़, मेवाड़, मालवा, वरार, खान देश, दक्षिण, तैलंग, करणाटक आदि सुदूर वर्ती प्रान्तों के लोग सैकड़ों की संख्या में उपस्थित हुए थे।

हैडमास्टर श्री गिरधारीलालजी के आग्रह से श्री महावीर जैन हाईस्कूल में पूज्य श्रीने 'सर्वमान्य धर्म' पर सारगर्भित व्याख्यान दिया था। ३०० विद्यार्थी, सब अध्यापक और अनेक जैन-जैनेतर उपस्थित थे। हैडमास्टर ने पूज्य श्री के रोचक प्रभावशाली व्याख्यान की प्रशंसा करके आभार प्रदर्शित किया।

आश्विन कृष्णा ९ को अमृतसर से लाला साहेब रतनलालजी तथा जंडियालेवाले राजा साहेब टेकचन्दजी आदि पांच श्रावक दर्शनार्थ आये थे और सुखशाता के समाचार पूछने के बाद प्रार्थना की कि:—

शास्त्र सुधार और जैनधर्म का देश-विदेश में प्रचार हो ऐसा कार्य करने का है, इसलिये आप जैसे विद्वान आचार्य की सहायता की परमावश्यकता है। अतः कृपा करके आप चतुर्मास समाप्त होने के बाद अमृतसर अवश्य पधारें।

पूज्य श्री ने उत्तर में फरमाया कि आप जानते ही हैं कि मुझे पहिले दक्षिण में जाकर साम्प्रदायिक-सम्मेलन आदि कार्य करने की आवश्यकता है। फिर जैसी स्पर्शना होगी वैसा देखा जायगा।

उन्होंने कहा—"कुछ दिन के बाद पंजाब से मुख्य २ श्रावकों का एक डेप्युटेशन इस विषय में आपको प्रार्थना करने के लिए आने वाला है वह आपको अवश्य पंजाब की तर्फ विहार करायेगा" ऐसा कह कर चले गये।

पूज्य श्री देहली पधारे जब से ही अलग २ बाजार वाले अपने २ बाजार पावन करने पूज्य श्री से साग्रह अर्ज कर रहे थे। सदर में बिराजित स्थविर मुनि श्री दीपचन्दजी म. के पं० शिष्य मुनि श्री लाजपतरायजी ने दो वक्त व्याख्यान में पधार कर अर्ज की, परिषदा ने भी

साग्रह समर्थन किया। चौमासे के प्रारम्भ में दो बाजारों की आज्ञा रखली होने से पूज्य श्री ने स्वीकार की। चातुर्मास के बाद करीबन् ८०० मिल दक्षिण में पधारने का होने से कहीं अधिक ठहरने की सम्भावना न होने से दोनों बाजार स्पर्शने के भाव से आश्विन शु० १२ बुधवार को सदर बाजार पधारे। अन्यान्य बाजार के श्रोता अत्यधिक संख्या में आने लगे।

कार्तिक कृ० २ रविवार को कॉन्फरेंस के प्रमुख श्री हेमचन्द भाई पूज्य श्री के दर्शनार्थ पधारे। दो घण्टे पूज्य श्री और प्रमुख सा० के बीच में समाज संगठन, सम्वत्सरी ऐक्यता आदि विषयों पर वार्तालाप हुआ। दूसरे दिन सब्जी मण्डी पधारे। श्रीमान् सेठ लाला शेरसिंह जी के भव्य बंगले में ठहराये गये। सभी बाजारों के जैन जैनेतर श्रोता आते रहे। जैन समाज भूषण दानवीर लाला ज्वालाप्रसादजी अपने पुत्ररत्न को पंचकूला गुरुकुल में प्रविष्ट कराने को जाते और लौटते समय पूज्य श्री के दर्शनार्थ ठहरे। रविवार होने से वकीलों और राजकीय लोगों के आग्रह से दुपहर में १॥ घण्टा सप्त कुव्यसन पर जाहिर व्याख्यान हुआ।

महावीर विद्यालय में "विद्या से उभयलोक में लाभ" बताकर पूज्य श्री विहार कर पुनः महावीर भवन पधारे। दीपावली के रोज महावीर प्रभु के जीवन में से अनुकरणीय विषयों को सुनाया। दूसरे रोज प्रातः ६॥ बजे से पुच्छीस्सुणं (वीर स्तुति) और उत्तराध्ययन सूत्र (वीर प्रभु की अन्तिम भेट रूप खजाना) मूल पौने तीन घंटे सुनाया। बाद में उतराध्ययन का महत्व सुनाया।

श्रीमान् लाला कोकनमलजी संखवाल की मातेश्वरी श्रीमती गंगादेवी जीने अपने विशाल भवन का आधा हिस्सा धर्म स्थानक के लिये दिया है। यह स्थानक सब साधु साध्वी काम में लेने लगजायँ, इस हेतु से मंगलाचरण रूप पूज्य श्री को उस स्थानक पर व्याख्यान फरमाने की श्रावकों की प्रार्थना से कार्तिक शु० ८ को पूज्य श्री ने उस स्थान में व्याख्यान फरमाया। (शय्या) दान पर श्री भगवती सूत्र में जयन्ति बाई का, सूयगडाङ्ग सूत्र में उदक पेढाल का और स्थानक

की दलाली के लिए दशाश्रुतस्कंध में श्रेणिक महाराज के ढंढेरा का जो अधिकार है; वह स्पष्टतया सद्‌बोध के साथ फरमाया।

कार्तिक शुक्ला १० को होशियारपुर के डेप्युटेशन ने पूज्य श्री को पोष शु० २ के पूर्व होशियारपुर पधारने की प्रार्थना की। क्योंकि पोष शु० २ को आचार्यपद महोत्सव, कई दीक्षाएँ और कान्फरेन्स की जनरल कमेटी होने वाली है। पूज्य श्री ने जो उत्तर अमृतसर के डेप्युटेशन को दिया वही इस डेप्यु० को दिया।

का० शु० १४ को बहुत पोषधोपवास हुए। परिषदा भी अत्यधिक थी। पूज्य श्रीने भगवती सूत्र के २४ वें शतक का प्रथमोद्देश पूर्ण किया। मुनिवरों का पारस्परिक प्रेम और गुणग्राहकता बताई गई।

पूर्णिमा को धर्म प्राण लौंकाशाह की जयंति मनाने का उपदेश फरमाया। सर्वत्र सूचनाएँ हुई और दूसरे दिन श्री लौंकाशाह जयति मनाने के लिये महावीर भवन के चौक में आम सभा हुई। सभी मुनिराज, सभी साध्वियां और अनेक श्रावक श्राविकाओं की परिषद् जुड़ी। सम्पूर्ण चौक खचाखच भर गया था।

प्रारम्भ में पूज्य श्री ने जैन धर्म को अनादि अनन्त सिद्ध करके काल दोष से धर्म के नाम में घुसे हुए विकारों को हटाने वाले जैन क्रांतिकार श्रीमान् लौंकाशाह का जीवन वृतान्त, मूर्तिवाद की उत्पत्ति, साधुमार्गी जैनों की प्राचीनता, सच्चे अहिंसादि धर्म पर १॥ घण्टा व्याख्यान फरमाया। बाद में मुनि श्री मूलचन्दजी म०, श्री० कल्याण ऋषि जी म०, श्री० हरिऋषि जी म० और श्री० लाजपतराय जी म०, के व्याख्यान हुए।

म० श्री० रतनकँवर जी म० ने शिष्या परिवार के साथ हितशिक्षा का रोचक भजन फरमाया। महावीर विद्यालय वालों ने पूज्य श्री के गुणानुवाद का संस्कृत अष्टक अर्थ सहित सुनाया। तत्पश्चात् अग्रगण्य श्रावकों ने पूज्य श्री के चातुर्मास से हुई ज्ञान प्राप्ति, अनेक प्रकार के लाभ, शान्ति और उपकार बताकर शीघ्र होने वाला विरह दुःख प्रगट किया।

प्रवर्तीनी जी श्री० रत्नकँवर जी म० के चातुर्मास से बाइयों में धर्म जागृति, तपस्या और उपकार हुए, इसका वर्णन करते हुए; महामतीजी के ज्ञानादि गुणों की तारीफ की।

पूज्य श्री ने चातुर्मास के अनुभव, भाइयों की ज्ञानजिज्ञासा, भक्ति भाव, प्रेम आदि की प्रशंसा की। इस वक्त चतुर्विध संघ में विरह दुःख छा रहा था। सब गद्गदित थे। श्री० छोटेलाल भाई ने अन्त में सभी का आभार मान कर महावीर प्रभु के जयनाद कराये।

अन्त में पूज्य श्री के मुखारविंद से मंगल पाठ सुन कर सभा विसर्जन हुई।

मार्ग० कृ० १ को पूज्य श्री का विहार होने को था। सब संतों को पक्खी के उपवास का पारणा था। और श्रावक श्राविकाओं का अत्याग्रह होने से पूज्य श्री प्रातः स्वयं गोचरी पधारे। पत्तलवाली गली में विराजती अतिजीर्ण वृद्धा आर्याजी को दर्शन दिये।

व्याख्यान में देहली श्री संघ की ऐक्यता की प्रशंसा और आन्तरिक त्रुटियों को दूर करने को फरमाया। फल स्वरूप शास्त्रज्ञ श्री मुन्नालाल जी भाई ने किसी विरोध से ३८ वर्ष से बारादरी के स्थानक में आना वन्द कर दिया था, वे पूज्य श्री के ज्ञानादि गुणों से आकृष्ट होकर दर्शनार्थ आने लगे थे। पूज्य श्री को भी आपने शास्त्र रहस्य की कई बातें बताई, उनको पूज्य श्री की विहार की तैयारी के समय कुछ आगेवान् श्रावक लाये। पूज्य श्री ने मतभेद का मतलब संक्षिप्त में समझाकर विरोध मिटा दिया। परस्पर खमत खामणा हुई और श्री मुन्नालालजी ने स्थानक में आते रहने का स्वीकार किया। सैकड़ों श्रावकों ने हर्ष-ध्वनि से महावीर प्रभु और पूज्य श्री के जयनाद से भवन को गुञ्जा दिया, पूज्य श्री ने विहार किया।

विहार के समय महावीर जैन हाईस्कूल व महावीर जैन विद्यालय का विद्यार्थी मण्डल, अध्यापकगण आदि लाइन सर चलते थे। बाद में पूज्य श्री ठा० ५ पं० मुनि नाथूलाल जी म० ठा० ६ चलते थे। बाद

में हजारों जैने जैनेतर पुरुष जयनाद से बाजार गर्जाते चल रहे थे। इसके पीछे कन्याशाला की बालिकाएँ श्रेणीबद्ध चलती थी। पीछे प्रवर्तिनीजी श्री० रत्नकँवरजी म० ठा० ८ और सैकड़ों श्राविकाएँ चौविसी स्तवनों से बाजार गर्जाती चल रही थी। करीबन् १ मील लम्बा जुलूस था। चांदनी चौक से ठंडी सड़क दरियागंज होते हुए देहली दरवाजे के बाहर वृक्ष की छांया में पूज्य श्री ठहर गये। मंगलिक सुनायी। कुछ जनता पीछे लौटी और कुछ साथ ही चली। तीन मील पर काशी नरेश के 'काशी भवन' में विराजे। शांति भगवान् के स्तवन के बाद जीव 'दया (विश्व का अचल प्रेम) से अपन खुद शांति के बरताने वाले बन सकते हैं' इस विषयक स्पष्टी करण करके संगठन को निभाने की सूचना के पश्चात् मंगलिक सुनायी। अनेक विध व्रत प्रत्याख्यान हुए। बहुत श्रावक श्राविका शाम तक वहीं ठहरे। दो संत तथा कई श्रावक रात्रि को भी रहे।

जनता एक आवाज से कहती थी कि, पूज्य श्री के शान्तिमय वर्ताव और ज्ञानामृत की वृष्टि से इस चौमासे में अभूत पूर्व आनन्द आया। पुनः ऐसी ही कृपा करने की साग्रह विनती करने लगे। लोगों की पूज्य श्री के प्रति हार्दिक प्रेम भक्ति का दृश्य रोमांचक एवं प्रभावक था।

अब पूज्य श्री विहार में हैं। मार्ग में अनेकानेक घोर परीषह सहते हुये, गांव गांव में भगवान् महावीर का लोककल्याणकारी संदेश सुनाते जारहे हैं। जहां जाते हैं वहीं व्याख्यानादि के ठाठ लगजाते हैं और जैन जैनेतर सभी आप से धर्म चर्चा करके महान लाभ उठाते हैं।

वर्तमान समय में पूज्य श्री की सेवा में—व्याख्यानी श्री कल्याण ऋषि जी, शास्त्राकारी श्री मुलतान ऋषि जी, तपस्वीजी श्री फतेह ऋषि जी वैयावच्ची श्री हरि ऋषि जी चार शिष्य हैं। सब के सब बड़े आज्ञाकारी एवं सुविनीत हैं। सर्व मुनि मंडल पूज्य श्री की सेवा में ज्ञान-दर्शन चारित्र का अक्षय लाभ उठा रहा है।

पूज्य श्री स्थानकवासी जैन संसार के प्रकाशमान सूर्य हैं। जैन साहित्य की शोभा वृद्धि में आपका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। संपूर्ण

३२ जैनागमों का हिन्दी अनुवाद करके तो आपने समाज पर वह असीम उपकार किया है, जो जैन इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। प्रभु महावीर से प्रार्थना है कि—पूज्य श्री चिर काल तक जैन धर्म का उद्योत करते रहें और भव्य जनों को अपने प्रवचन सुधारस से परितृप्त करते रहें।

पूज्य श्री का जन्म लग्न।

[पूज्य श्री का यह जन्म लग्न भूल के कारण जीवन चरित्र के प्रारम्भ में नहीं दिया जासका; अतः एव पाठको के परिचय के लिये यहां अन्त में दिया जा रहा है।]

शुभ सम्वत १९३३ भाद्रपद कृष्णा ४ बुध वासरे उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र ४०–३४ दिनमान ३२–४५ तत्रेष्टम् ११–०–० कन्या लग्ने।
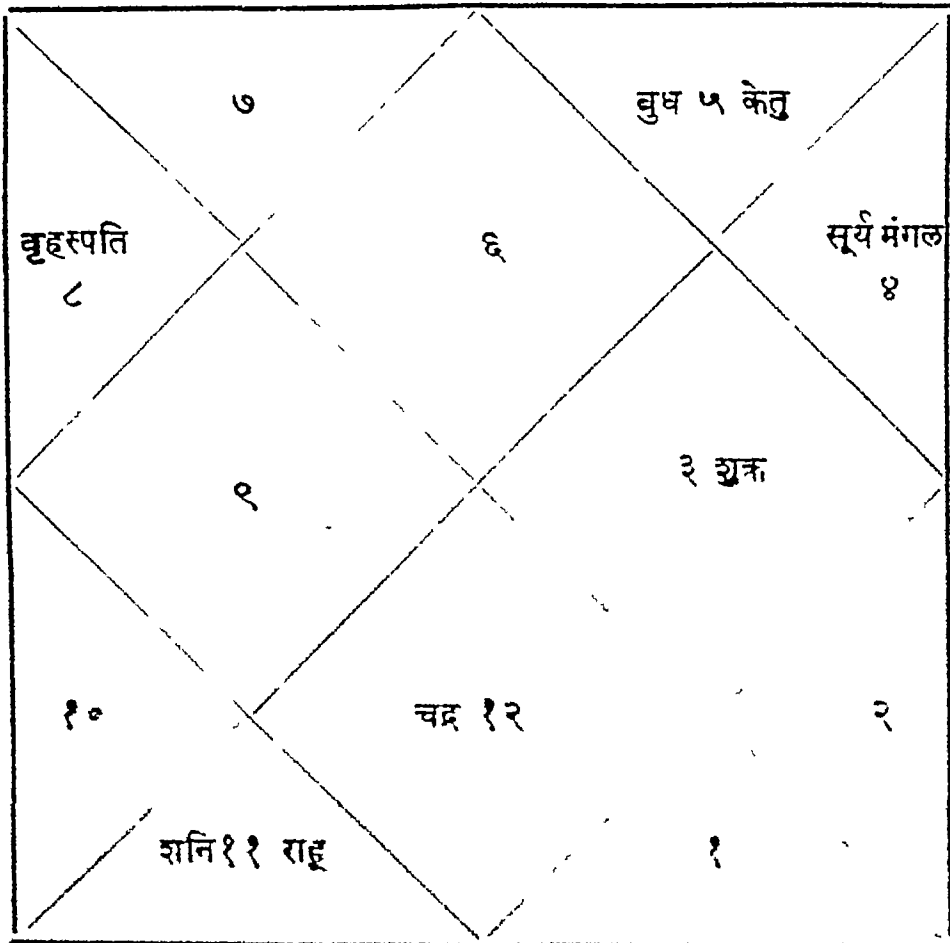
निवेदकः—

मत्री, ऋषि श्रावक समिति।

श्रीमती विदुषी सती ' अनारदेवी ' का संक्षिप्त जीवन वृत्तान्त ।

आप–पटियाला स्टेट के अन्तर्गत महेन्द्रगढ़ (कानौंड) नगर के निवासी, अग्रवाल वंशावतंस, दक्षिण हैदराबाद के बादशाह हि० हा० सरकार महबूब अलीशाह के खास जौहरी, राजा बहादुर के प्रतिष्ठितपद से अलंकृत, श्री स्थानक वासी जैन धर्म के स्तंभस्वरूप, श्वे० स्था०जैन कान्फरेंस का चतुर्थ अधिवेशन हैदराबाद में अपने निजी खर्च से कराने वाले, अनेक संस्थाओं व सभाओं को सहस्राधिक संख्या में द्रव्य की सहायता देने वाले, श्री जैन धर्म के परमादरणीय ३२ सूत्रों के उद्धार का व अमूल्य प्रकाशन का कार्य प्रारंभ कराने वाले, ऐसे स्वर्गीय श्रीमान् लाला सुखदेवसहायजी की सुपुत्री हैं । तथैव सुशीला, पति भक्तिपरायणा, सेवा प्रिया, सरल एवं विनम्र स्वभाव वाली, हजारों रुपयों का दान धर्म स्वयं करने वाली तथा सामयिक प्रेरणा द्वारा अपने परिवार से कराने वाली, चारों तीर्थ की यथोचित सेवा भक्ति उदार भावों से करने वाली, व्रत नियम और अठाई तपोमय धर्म का लाभ लेने वाली, स्वर्गीया श्रीमती भगवती देवीजी की आप प्राणों से प्यारी आत्मजा हैं ।

श्रीमान् लाला ज्वालाप्रसादजी की आप बड़ी बहन हैं । लालाजी अपने व्यक्तित्व के एक अद्वितीय सत्पुरुष हैं । आपका स्वभाव अतीव सरल एवं शान्त है । छोटे से छोटे व्यक्ति का भी सस्नेह सत्कार करना आपकी आदरणीय विशेषता है, जो श्रीमानों में विरलही कहीं मिला करती है । श्रीमान् होकर भी निरभिमानी होना, यह एक उच्च आदर्श है । आपका रहन सहन इतना सीधा और सादा है कि–आपको देखने वाले सज्जन सहसा आश्चर्य चकित होजाते हैं । आप बड़ेही कोमल हृदय के पुरुष हैं । कितनेही असहाय एवं अनाथ मनुष्यों का आपकी तरफ से पालन होता है । महेन्द्रगढ़ में आपकी तरफ से दान शाला लगी हुई है,

जहां से अनेक दीन हीन मनुष्य, प्रतिदिन भोजन पाते हैं। शीतकाल में गरीबों को कंबल और सोड़ वगैरह भी वांटा करते हैं। आपका साहित्य प्रेम भी प्रशंसनीय है। आज तक सैकड़ों छोटे बड़े ग्रंथ, और ४२०००) के महान् व्यय से मुद्रित जैन धर्म के महामान्य ३२ सूत्र हिन्दी अनुवाद सहित, आपकी तरफ से अमूल्य वितरण किये गये हैं। अब भी कोई न कोई पुस्तक प्रतिवर्ष भेंट स्वरूप प्रकाशित होती ही रहती है। साधु साधवियों के प्रति होने वाली आपकी भक्ति अपूर्व है। अनेक दीक्षा महोत्सव आपकी तरफ से हुये हैं और प्रतापी पूज्य श्री मोतीरामजी म० का महेन्द्रगढ में तथा शास्त्रोद्धारक पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज का इन्दोर में, आचार्य पदारोहण महोत्सव के कराने का असीम लाभ भी आपने ही उठाया है। गुरुकुल पंचकूला को, आपकी तरफ से महती सहायता मिली है। आपकी सेवाओं के उपलक्ष्य में, गुरुकुल समिति ने आपको जैन समाज भूषण की पदवी से अलंकृत किया है। पूज्य पिताजी के स्मारक में जहां साहित्य भवन तथा सामायिक भवन, ८–९ हजार के खर्च से बनाया है। इसके अतिरिक्त २००००–२५०००) की और भी चंदा आदि में सहायता दी है। अपने निवास स्थान महेन्द्रगढ़ में भी पूज्य पिताजी के नाम से एक वृहत् पुस्तकालय एवं वाचनालय चल रहा है। पाथरड़ी (अहमदनगर) जैन पाठशाला को २१०० और कड़ा (अहमदनगर) जैन पाठशाला को १२०० का दान दिया है। इसी वर्ष श्रावण में महेन्द्रगढ़ विराजित प्रतापी पूज्य श्री मोतीरामजी महाराज का स्वर्गवास हुआ, सो उत्सव का समस्त व्यय आपकी तरफ से ही हुआ था। यही नहीं, पूज्य श्री की पवित्र स्मृति में ३०००) का दान भी निकाला है। इस प्रकार समाज हित के लिये आज तक लक्षाधिक द्रव्य का सद्-व्यय आपने किया है।

आपकी मोजाई श्रीमान् लालाजी की धर्म पत्नी भी बड़ी उदार हृदया एवं धर्मनिष्ठा हैं। गृहकार्य में दक्ष और सभी से प्रसन्न चित्त रहने वाली हैं। स्त्री स्वभाव सुलभ ईर्षा और गर्व तो आपमें देखने को नहीं मिलता। चारों तीर्थ की यथार्थ तया सेवा भक्ति करने वाली हैं।

समय समय पर संवर, सामायिक, पौषध, बेला तेला आदि तप धर्म भी खूब करती रहती हैं। प्रकृति इतनी शान्त है कि–घर के नोकर चाकर एवं अन्य जन आपकी सर्वदा प्रशंसा करते रहते हैं। इस प्रकार बाईजी का पितृपक्षीय परिवार बड़ाही आदर्श परिवार है।

आपका जन्म सं० १९३९ श्रावण सुदी पंचमी के दिन महेन्द्रगढ़ में हुआ तथा विवाह सम्बन्ध भी यहां पर सं० १९४९ के माघ मास में बनारस निवासी धर्मात्मा श्रीमान लाला विश्वेश्वरदासजी के सुपुत्र लाला रामदासजी के साथ बड़ेही ठाठबाठ से संपन्न हुआ। किन्तु कराल काल की कुटिल गति के कारण यह स्नेहसम्बन्ध विशेष काल न रह सका। दक्षिण हैद्राबाद में जवाहिरात की दुकान होने के कारण आपके पिताश्री सुखदेवसहायजी समस्त परिवार सहित हैदराबाद में ही रहते थे, इसलिये आप भी वहीं रहने लगी थी। उस समय वृद्धावस्था के कारण तपस्विराज श्री केवल ऋषिजी महाराज भी हैदराबाद में स्थिरवास से रहे हुये थे, सेवा में श्री अमोलक ऋषिजी महाराज थे। उक्त मुनिराजों के पास धर्मोपदेश श्रवण कर आपको वैराग्य भाव उत्पन्न हुआ। फलतः सं० १९७१ के माघ में श्रावक के बारह व्रत धारण किये। तब से व्रतों का निरतिचार पालन, धर्म ग्रन्थों का पठन–मनन, उपवास बेला तेला आदि तप करती हुई धर्म ध्यान में ही अपना बहुमूल्य समय बिताने लगी। अपनी अन्य स्वधर्मी बहनों को भी बारह व्रतों का ज्ञान कराने के उद्देश्य से 'श्रावक के बारह व्रत' नामक पुस्तक श्री अमोलक ऋषिजी म० से सविस्तार लिखा कर एवं १००० हजार प्रति छपाकर अमूल्य वितरण की। श्रावगी जाति की सौ० गुलाबबाई तथा हुंबड़ जाति की सौ० जवेर बाई–दोनों ज्ञानज्ञ एवं महा तपस्विनी श्राविकाओं का सत्संग होने से आपके ज्ञानादि गुणों में अच्छी वृद्धि हुई।

आपकी प्रवृत्ति वैराग्य भाव में स्वभावतः ही है। इसीलिये ज्ञानादि गुणों में अपनी आत्मा को रमाती हुई एवं बहुत ही सीधे सादे रहन सहन व खान पान से रहती हैं। जिस किसी के भी साथ रहने सहने का व वार्तालाप का प्रसंग आता है तो आप सांसारिक सम्बन्ध की बातें

बहुत कम करती हैं, इसके विपरीत धर्म सम्बन्धी त्याग वैराग्य की तथा चारों तीर्थ के गुणानुवाद की ही बातें किया करती हैं। समय समय पर शास्त्रों में की अनेक सद्बोधप्रद कथाएँ भी सुनाया करती हैं, जिससे अन्य मतावलम्बी बहनों को भी जैन धर्म की अनुरागिनी बनाकर उन्हें अनेक प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान कराती हैं—पाप से बचाती हैं। गृहकार्य करते समय भी जीव जन्तुओं की रक्षा का बहुत उपयोग रखती हैं; अतः आश्रव के काम में भी संवर निपजा लेती हैं। आप बड़ी ही विचार वान विदुषी श्राविका हैं। आपके जगदम्बाप्रसादजी पुत्र रत्न हैं, जो व्यापार कला में कुशल–विनय विवेकादि गुणालंकृत–अतीव धर्मनिष्ठ हैं। पुत्र वधू भी बड़ी सुशीला एवं चतुर है। दो पौत्र और दो पौत्रियां हैं, यों आपका सभी परिवार सुखद एवं सुयोग्य है।

तपस्विराज श्री केवल ऋषिजी म० का स्वर्गवास होने के पश्चात् श्री अमोलक ऋषिजी म० के पास तीन महापुरुषों की दीक्षा, आपके पिता श्रीने १००००) रुपये के खर्च से हैदराबाद में कराई थी, तब आपने भी बहनों का उत्साह बढाकर यथोचित प्रत्येक कार्य में भाग लेकर उत्सव को खूब दिपाया था। जब श्री अमोलक ऋषिजी म० शास्त्रोद्धार संबन्धी कार्य के लिये सिकंदराबाद (दक्षिण) में छः वर्ष तक विराजमान रहे, तब भी आप वहां यथावसर दर्शनार्थ जाती थी और ज्ञानादि गुणों में अभिवृद्ध करती हुई महान् धर्म लाभ लेती थी। महाराज श्रीने कर्नाटक देश में विचरते हुये जब रायचूर में चौमासा किया, तब भी आपने लाला जी ज्वालाप्रसादजी के साथ वहां रहकर धर्माराधन किया था। मिरज गांव में जब श्री स्थविर पद विभूषित रत्न ऋषिजी म० श्री अमोलक ऋषिजी म० पं० श्री आनंद ऋषिजी म० ठा० छः से विराजमान थे, तब लालाजी के साथ दर्शनार्थ वहां गई थी और पाथर्डी पाठशाला को लालाजी ने जब २१००) रुपये दिये तब आपने भी अपनी तरफ से १२५) भेंट किये थे। सं० १९८९ ज्येष्ट शुक्ला १२ बुधवार को इन्दोर में श्री अमोलक ऋषिजी म० के आचार्य पदारोहण (पूज्य पद) महोत्सव पर भी लालाजी के साथ पधारी थी और उत्सव में विशेष भाग लिया था।

सं० १९९० चैत्र एवं वैसाख में अजमेर नगरी में वृहत् साधु सम्मेलन हुआ था, २३८ साधु और ४० आर्याजी तथा ६०–७० हजार श्रावक श्राविका आदि एकत्र हुये थे, उस समय श्रीमान् लालाजी भी स्वतंत्र मकान लेकर संपूर्ण परिवार के साथ वहां रहे थे। ऐसे अपूर्व अवसर पर चौदह ही प्रकार के दान की उत्तमोत्तम वस्तुओं का संग्रह आपके घर पर था। सैकड़ों साधु साधवियों को अढलक भाव से प्रति लाभ कर अद्वितीय लाभ लिया जाता था। उस समय साधु साधवियों ने लालाजी के घर का नाम 'कुंवयावण की हाट' रक्खा था–अर्थात् जिस समय जो वस्तु चाहिये, उस समय उसी वस्तु का जोग प्रायः लालाजी के घर से मिलता था। यही नहीं, प्रतिदिन १००–१५० स्वधर्मियों का भोजन भी आपके घर होता था। अजमेर पधारे हुये चतुर्विध संघ तथा जैनेतर लोग भी कहते थे कि–जैसा दान और सेवा का लाभ लालाजी ने लिया, वैसा दूसरा कोई नहीं लेसका। उक्त अवसर पर आप भी वहां थी और आलस प्रमाद का त्याग कर चारों तीर्थ की सेवा का महान् लाभ लेती थी–अपने हाथ सेही दान देने का व सेवा भक्ति करने का काम करती थी।
सं० १९९१ में महेन्द्रगढ़ (पटियाला) में पूज्य श्री मोतीरामजी म० वृद्धावस्था के कारण पहिले ही विराजमान थे और इसी समय पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी भी वहां पधारे थे, तथा चौमासा भी किया था। उस समय लालाजी ने पंचकूला गुरुकुल के अध्यापक व ब्रह्मचारियों को तथा हैदराबाद कलकत्ते आदि स्थानों से अपने सम्बन्धियों को बुलाकर एवं धर्माराधन तपश्चर्या आदि कराकर चौमासा खूब ही दिपाया था। इस अवसर पर आपने भी अठाई तप किया था, आपके साथही उद्यमीलाल की दादी तथा मातेश्वरी ने-विरनुदयाल की मातेश्वरी ने–भाई जुगलकिशोरजी ने–हैदराबाद वाले रामलालजी की बहू ने–लालाजी के पांच नौकरों ने–तथा वैरागी देवीचंद ने–इस भांति तेरह अठाई हुई थी। इसके अतिरिक्त और भी उपवास, बेला, तेला, पचोला, आंविल, दया, पोषध, सामायिक के मास खमन (३१ सामायिक एक साथ) चारों स्कंध, सप्त व्यसन के त्याग आदि हुये थे। और भी व्याख्यान पूर्ण होने

के बाद हमेशा दलाली करके कुछ न कुछ प्रत्याख्यान सभी को कराती थी। इस समय अठाई तप की सुची में आपने अपने पास के द्रव्य में से २०००) रुपये सत्कार्य में लगाने के लिये अर्पण किये थे; उन्हीं के खर्च से यह 'परमात्ममार्ग दर्शक' नामक ग्रंथ का द्वितीय संस्करण पाठकों को अमूल्य भेंट दिया जाता है।

निवेदक:—
मंत्री, ऋषि श्रावक समिति

विषय सूची

विषय	पृष्ठ
मंगलाचरण	१
प्रवेशिका	२
तीर्थंकर गोत्र प्राप्ति के २० बोल	३
टिप्पण मे दिगंबरीय १६ कारण	४
प्रकरण १ ला अर्हत गुणानुवाद	५
जन्म का शुभ प्रभाव	,,
शरीर का वर्णन	६
वार्षिक दान	८
दीक्षा व तप का वर्णन	८
कर्मशत्रु पराजय की अनोखी रीति	९
अनंत चतुष्टय की प्राप्ति तथा समवसरण की रचना	१०
द्वादश प्रकार की परिषदा	११
देशना का प्रभाव	,,
अतिशय	१२
आन्तरिक गुण	१२
सार्थ इकत्तीस नाम	१३
अनंत उपकार	१४
सर्व देवों से अर्हंत की विशेषता	१५
आश्चर्यकारी गुण	१६
चौवीश तीर्थंकरो के नामों का—द्रव्यार्थ और भावार्थ	१७
संक्षिप्त गुण कीर्तन	२१
प्रकरण २ रा सिद्धगुणानुवाद	२३
सिद्धपद कौन प्राप्त करसकता है	,,
केवली समुद्घात	,,
योग निरोध	२४
अवगाहना और ऊर्ध्व गमन	२५
सिद्ध—शिला	२६
अनन्त सिद्धों का एकत्र समावेश	,,
आठ और इकत्तीस गुण	२७
इकत्तीस दोषो का अभाव	२८
अनेक नाम	२८
सिद्ध सुख की उपमाऐ	२९
अन्यमतो की काल्पनिक सिद्धअवस्था	३०
सिद्ध स्वरूप की सप्त भंगी	३१
सिद्ध स्वरूप के षट कारक	३२
नाम कीर्तन	३३
आठ मूल गुण	३४
प्रकरण ३ रा प्रवचन गुणानुवाद	३७
प्रवचन का अर्थ	,,
प्रवचन की उत्पत्ति	,,
द्रव्य विद्या की उत्पत्ति	३८
टिप्पणी में सर्वज्ञ का अस्तित्ववाद	३९
जिन वाणी के ३५ अतिशय	४०
द्वादशांग का स्वरूप	४३
चौदह पूर्व का ज्ञान	४७
जिन वाणी का अनादित्व	४८
ब्राह्मणों की उत्पत्ति	५०
वेदो की उत्पत्ति	५१
सांख्य मत का समय	५१
वेदों में हिंसा	५२

वारह उपांग ५५
जैनागम लिखने का समय ५८
आगमो की श्लोक संख्या ५९
महानिशीथादि आगम ५९
आगम ज्ञान की हानि के कारण ६०
जिनवाणी से महान् लाभ ६१

प्रकरण ४ था गुरुगुणानुवाद ६३
परमात्मा से भी गुरु का आधिक्य ६३
गुरु के ३६ गुण ६४
वंदना करने की विधि ६५
वन्दना के ३२ दोष ६६
तेतीस अशातना ६९
आशातना का फल ७१
गुरु--भक्ति की विधि ७२
एकाक्षर प्रदाता गुरु का महत्व ,,
गुरु गुण कीर्तन ७३

प्रकरण ५ वाँ स्थविर गुणानुवाद ७७
स्थविर शब्द का अर्थ ,,
दो प्रकार के स्थविर ,,
लौकिक स्थविर भक्ति ७८
तीन प्रकार के स्थविर ८२
स्थविर भक्ति की रीति ८४

प्रकरण ६ ठा बहु सूत्री गुणानुवाद ८६
बहु सूत्री कौन ,,
सूत्रों में सात प्रकार के वर्णन ,,
सात नय ८८
चार निक्षेप ९५
चार प्रमाण ९५
चार अनुयोग ९६
व्यवहार और निश्चय ,,
बहु सूत्री की १६ उपमाएँ ९९
करण--सत्तरी और चरण सत्तरी १०३
बहु सूत्री--गुण कीर्तन १०५

प्रकरण ७ वाँ तपस्वी गुणानुवाद १०७
आत्मा अनादि से तपस्वी है ,,
पुद्गलो के भोग से दुःख है ,,
तप अन्तराय के कारण १०९
तप अन्तराय तोड़ने के उपाय १११
अट्ठाईस लब्धियाँ ११७
पंचम काल में लब्धि क्यो नहीं ११८
तप मद नहीं करना ११९
तपोमूर्ति धन्ना अणगार ११९
तप के विषय मे कढाई का--
उदाहरण १२०
लोभी बनिये का उदाहरण १२१
तप का फल १२१
सज्ञान और अज्ञान तप का अन्तर १२२
नव प्रकार के निदान १२३
बारह प्रकार का तप १२५
तप से परम पद की प्राप्ति १२६

प्रकरण ८ वाँ संघवत्सलता १२८
संघ और वत्सलता का अर्थ ,,
साधु के अनेक नाम १२९
साधु के २७ गुण १३०
साध्वी का विशेष कल्प १३१
श्रावक शब्द का विशेषार्थ १३१

श्रावक के २१ गुण सविवेचन १३४
श्राविका के गुणों में विशेषता १५०
संघ भक्ति के १७ प्रकार १५१
संघवत्सलता के लिये सद्बोध १६३
राजा के सैन्य का उदाहरण १६६
सूत्र की साक्षी से निंदा व स्तुति–
का फल १६७
संघवत्सलता का फल १६९

प्रकरण ९ वाँ ज्ञान उपयोग १७०

जीवका लक्षण–उपयोग ,,
उपयोग के दो प्रकार १७१
तीन अज्ञान ,,
मति और श्रुत ज्ञान ,,
दोनों मे भेद १७४
अवधिज्ञान १७५
मनः पर्यय ज्ञान १७६
दोनो मे भेद ,,
केवल ज्ञान १७७
चार दर्शन १७८
शुद्ध उपयोग का फल १७९

प्रकरण १० वाँ दर्शन-सम्यक्त्व १८३

सम्यक्त्व का महत्व ,,
मिथ्या दर्शन १८४
तीन करणों का स्वरूप सोदाहरण ,,
सम्यक्त्व के २५ दोप १८६
तीन मूढ़ता ,,
आठ मद १९०
छः अनायतन १९३
सम्यक्त के आठ दोष १९७
सम्यत्व का फल २०१
सम्यक्त्व सम्बन्धी प्रश्नोत्तर २०२
विचार शुद्धि २०७

प्रकरण ११ वाँ विनय २१०

विनय से सर्व गुण प्राप्ति २१०
विनय रूप कल्पवृक्ष २१२
विनय के ७६ भेद २१४
विनीत के १५ गुण २१५
विनयवानो की भावना २१६

प्रकरण १२ वाँ आवश्यक २२२

आवश्यक क्यों करना २२२
गुरुवन्दना–तिखुत्ता २२३
ईरियावही ,,
तस्सुत्तारी २२४
लोगस्स २२५
क्षेत्र विशुद्धि २२६
नमुत्थुणं ,,
इच्छामिणं २२७
प्रथम आवश्यक–सामायिक ,,
नवकार महामंत्र ,,
सामायिक २२८
सामायिक का अर्थ ,,
इच्छामि ठामि २२९
द्वितीय आवश्यक–चोवीसत्था २३१
तृतीय आवश्यक–वंदना ,,
खमा समणो ,,
चौथा आवश्यक–प्रतिक्रमण २३४

आगमे तिविहे ३३४
दंसरा--सम्यक्त्व २३५
पांच महाव्रत और २५ भावना २३६
पांच समिति, तीन गुप्ति २३९
छः काया की आलोचना २४१
श्रावक के १२ व्रत और अतिचार २४२
संलेसणा २५०
साधु भी संलेसणा पढ़ें ,,
१८ पाप स्थान २५३
२५ मिथ्यात्व ,,
चौदह समूर्च्छिम २५४
मांगलिक २५५
श्रमण सूत्र ,,
श्रमण सूत्र के प्रश्नोत्तर ,,
पंचम आवश्यक--काउसग्ग २७६
छट्ठा आवश्यक--पच्चक्खाण २७७
प्रति क्रमण सम्बन्धी सूचना २७८

प्रकरण १३ वाँ शील व्रत २८०
शील की महिमा ,,
कामके १० वेग २८१
काम विजय के लिये सद्बोध ,,
शील की ९ बाड़ २८६
शील पालने का फल २८७
व्रत और अतिचार का स्वरूप २८९
बारह व्रत २९०
उत्सर्ग और अपवाद ,,
अतिचार के १२४ भेद २९३
४९ भांगे ४४१ भंग २९५

प्रकरण १४ वाँ खिणालवनि-
वृत्ति भाव ३००
मन के भ्रमण करने के दो मार्ग ,,
मनोनिरोध के उपाय ३०१
अष्टांगयोग ३०४
यम ,,
नियम ३०५
आसन ,,
प्राणायाम ३०६
प्रत्याहार ३०७
धारणा ३०८
ध्यान ३०९
समाधि ३१५

प्रकरण १५ वाँ तप ३१८
मुक्ति का कारण तप है ,,
अनशन तप के २७ भेद ,,
तपो के यंत्र ३१९
उणोदरी तप के १३ भेद ३२४
भिक्षाचरी तप के ४६ भेद ३२५
रस परित्याग तप के १० भेद ३२६
काय क्लेश तप के १८ भेद ३२७
प्रतिसंलीनता तप के ५ भेद ,,
प्रायश्चित तप के १० भेद ,,
विनय तप के ८२ भेद ३२८
वैयावच्च तप के १० भेद ३२९
सज्झाय तप के ५ भेद ३३०
ध्यान तप के ४८ भेद ,,
विउसग्ग तप के २५ भेद ३३२

प्रकरण १६ वाँ चेइय-दान	**३३४**	भ्यास	३७९
चेइय शब्द पर विचार	,,	ज्ञान का महात्म्य	,,
दान की महिमा	३३५	प्राचीन काल की स्थिति	३८०
दान का अर्थ और भेद	३३८	पुरुष की ७२ कलाएँ	३८०
अनुकंपादन	३३९	स्त्रियों की ६४ कलाएँ	३८१
संग्रह दान	३४०	प्राचीन काल का धर्माभ्यास	३८२
अभय दान	३४१	अर्वाचीन काल की स्थिति	३८३
करुणादान	३४८	विद्या का प्रत्यक्ष प्रभाव	३८३
लज्जा दान	३४९	ज्ञानार्थी के विचार	३८६
गर्व दान	३५०	ज्ञान ही मोक्ष का मार्ग है	३८७
अधर्म दान	३५१	**प्रकरण २० वाँ सूत्र भक्ति**	**३९०**
धर्म दान	३५२	तीर्थंकर की वाणी का प्रभाव	,,
प्रत्युपकार दान	,,	सूत्रभक्ति की विधि व सद्बोध	३९१
कीर्ति दान	,,	सूत्र भक्ति के ८ दोष	३९४
दान देने की विधि	३५३	सूत्र भक्ति का फल	३९७
दातार के गुण	३५४	**प्रकरण २१ वाँ प्रचन प्रभावना**	**३९९**
दान में देने योग्य वस्तुएँ	३५७	प्रवचन का अर्थ	,,
पुण्य के ९ प्रकार	३५८	आठ प्रभावना	,,
दान लेने वाले पात्र	३५९	प्रवचन प्रभावना	४००
पात्रों को देने का फल	३६१	धर्मकथा प्रभावना	,,
दान का गुण	३६२	वक्ता के गुण	,,
प्रकरण १७ वाँ वैयावच्च-भक्ति	**३६१**	श्रोता के गुण	४०१
वैयावच्च के ९१ भेद	,,	चतुर्विध धर्म कथा के १६ भेद	,,
वैयावच्च का महाफल	३६५	निरपवाद प्रभावना	४०६
प्रकरण १८ वाँ समाधि भाव	**३६७**	त्रिकालज्ञ प्रभावना	४०८
क्रोधाग्नि का प्राबल्य	,,	तप प्रभावना	४०९
क्षमावानों की भावना	३६८	व्रत प्रभावना	,,
प्रकरण १९ वाँ अपूर्व ज्ञाना-		विद्या प्रभावना	४१०

कवि प्रभावना	४११	संपके लिये दृष्टान्त	४१६
प्राचीन जन प्रभावक	३१२	प्राचीन व अर्वाचीन प्रवृत्ति	४२२
वर्तमान स्थिति का दिग्दर्शन	४३३	अब भी चेतो	४२७
		उपसंहार	„

श्री परमात्म-मार्ग दर्शक ।

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

परमात्म-मार्ग-दर्शक.
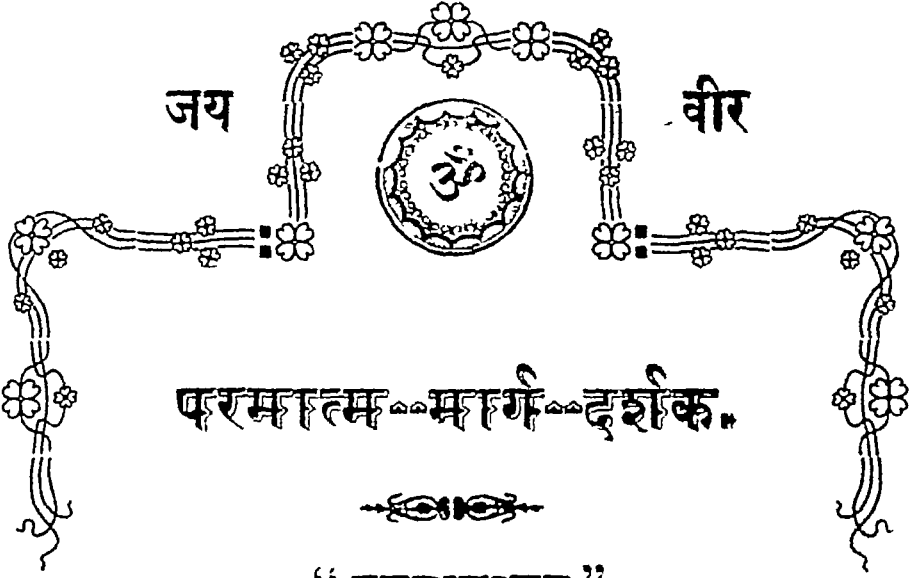
"मङ्गलाचरणम"

ज्ञानलक्ष्मी घनाश्लेष-,
प्रभवानन्दनान्दितम् ।
निष्ठितार्थमजं नौमि ,
परमात्मानमव्ययम् ॥

—:o:—

जो परम अर्थात् उत्कृष्ट विशुद्ध आत्मा के धारक हैं, अथवा परा-उत्कृष्ट मा-कैवल्य लक्ष्मी से जिनकी आत्मा संयुक्त होचुकी है; जो अनंत-ज्ञान रूप लक्ष्मी के घनाश्लेष से उत्पन्न हुए परम अतीन्द्रिय अनंत आनंद से सर्वदा आनंदित हैं; जो निष्ठितार्थ हैं अर्थात् सब प्रयोजन पूर्ण होने के कारण कृतार्थ हैः जो संसार में आकर फिर जन्म नहीं लेने के कारण अज हैं; जो अव्यय अर्थात् अविनाशी नाश रहित हैं; ऐसे श्री सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमपिता परमात्मा को मेरा त्रिकरण तथा त्रियोग की विशुद्धि से बारंबार नमस्कार हो ।

प्रवेशिका ।

"अप्पा—सो—परमप्पा" ।

—:०:—

तत्वज्ञ महान् सत्पुरुषोंका फरमान है कि– "आत्मा है वही परमात्मा है" अर्थात् आत्मा का जो निज–शुद्ध सत्य स्वरूप है, वही परमात्म स्वरूप है। परन्तु अनादी कर्मों के प्रसंग से यह आच्छादित होने के कारण, आत्मा नाम से पहचाना जाता है। जैसे व्यावहारिक सत्कर्मों द्वारा सामान्य मनुष्य भी भट (सिपाइ), तलार (कोतवाल) मंत्री (प्रधान), राजा और महाराजा पदको प्राप्त होते हैं, वैसे ही यह आत्मा शास्त्रोक्त ऊंच (अच्छे) कर्तव्यों द्वारा, सम्यक्त्व आदि गुणस्थानारोहण करता–करता, अंत में परमात्म पदको (तीर्थंकर पदको) प्राप्त करता है। अन्य पदों को प्राप्त हुए प्राणी का तो पतन (पड़ना) भी हो जाता है, परन्तु जो आत्मा परमात्म पदको प्राप्त हुई है, वह कदापि नहीं पड़ती है। अर्थात् अनंतानंत काल तक परमात्माही बनी रहती है और अक्षय, अव्याबाध, निरामय सुख भोगती है। ऐसा अप्रतिपाती और सर्वोत्कृष्ट सुख मय जो परमात्म पद है, उसे प्राप्त करने के लिए सर्व सुखार्थी मुमुक्षु जनोंको अभिलाषा होवे, यह स्वाभाविक ही है। और इस अभिलाषा–वांछाको पूर्ण करने का उपाय भी, सर्वज्ञ प्रभुने भव्य जीवों पर परम कृपालु होकर जैनागम–शास्त्र द्वारा फरमाया है, प्रकाश किया है। उसी उपायको यहां स्वआत्मा और पर आत्मा के हितार्थ, यथा बुद्धि विस्तार युक्त बताकर, इस परमात्म पदको प्राप्त करने के प्रति, प्रवृत्त करना चाहता हूँ:—

आर्या-गाथा

अरिहंत सिद्ध पवयणे, गुरुथेरे बहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छलया य तेसिं । अभिक्खनाणोवगये ॥ १ ॥
दंसण विणय आवस्सए य, सीलव्वय निरइयारे ।
खणलव तव चियाए, वेयावच्चे समाहीए ॥ २ ॥
अपुव्व नाण ग्गहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणाय ।
एएहिं कारणेहि, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ ३ ॥

—ज्ञाता सूत्र, अ० ८

भाषा-दोहे

अरिहत सिद्ध सूत्र गुरु, स्थविर बहु सूत्री जान ।
गुण करता तपस्वी तणा । उपयोग लगावत ज्ञान ॥ १ ॥
शुद्ध सम्यक्त्व नित्य आवश्यक, व्रत शुद्ध शुभध्यान ।
तपस्या करता निर्मली । देत सुपात्रे दान ॥ २ ॥
वयावच्च सुख उपजावता, अपूर्व ज्ञान उद्योत ।
सूत्र भक्ति मार्ग दीपत, बँधे तीर्थंकर गोत ॥ ३ ॥

—:o: –

भावार्थ-(१) अर्हंत भगवंत के गुणानुवाद (२) सिद्ध भगवंत के गुणानुवाद (३) प्रवचन-शास्त्र अर्थात् श्री जिनेन्द्र की वाणी के गुणानुवाद (४) गुरु महाराज के गुणानुवाद (५) स्थविर महाराज के गुणानुवाद (६) बहु सूत्री-उपाध्याय महाराज के गुणानुवाद (७) तपस्वी महाराज के गुणानुवाद (८) ज्ञान में बारम्बार उपयोग लगाना (९) सम्यक्त्व निर्मल पालना (१०) गुरु आदि पूज्य पुरुषोंकी विनयभक्ति करना, (११) निरंतर षडावश्यक-प्रतिक्रमण करना, (१२) शील ब्रह्मचर्य आदिक व्रत-प्रत्याख्यान निरतिचार—दोष रहित पालना (१३) सदा निवृत्ति वैराग्यभाव रखना (१४) बाह्य-प्रगट और अभ्यंतर-गुप्त तपश्चर्या करना (१५) सुपात्र दान उदार भावों से देना (१६) गुरु, तपस्वी, गिलाणी, (रोगी) नवदीक्षित,

इन की वैयावृत्य-सेवा भक्ति करना, १७ समाधि भाव-क्षमा करना १८ अपूर्व-नित्य नए ज्ञानका अभ्यास करना १९ सूत्रभक्ति-जिनेश्वरजी के वचनों का भक्ति भाव पूर्वक श्रवण, पठन, मनन करना और २० जैन धर्मकी तन मन धनसे, प्रभावना—उन्नति करके उसे दिपाना। इन बीस कामों के करते करते जब कभी उत्कृष्ट रसायण आवे-अर्थात् हूबहू रस आत्मा में परगमे, उन गुणों में आत्मा तल्लीन होवे, तब तीर्थंकर गोत्र उपार्जन होता है। अर्थात् उस आत्मा को आगामी तीसरे जन्म में, तीर्थंकर पद-परमात्म पद की प्राप्ति होती है। *

अब इन बीसही बोलों का, आगे पृथक् पृथक् प्रकरणों में सविस्तर वर्णन किया जायगा।

---

* उमास्वामीकृत तत्वार्थाधिगम सूत्र की छठी अध्याय मे कहा है—

सूत्र—दर्शन विशुद्धि विनय संपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी संघसाधुसमाधि-वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचन — भक्तिरावश्यका परिहाणिर्मार्ग प्रभावना प्रवचन वत्सलत्वमितितीर्थकृत्वस्य ॥ २ ॥

अर्थ—सम्यक् दर्शन की परमोत्कृष्ट विशुद्धि, २ विनययुक्त नम्रता रखना, ३ शीलव्रतादिव्रत अतिचार-दोष रहित पालना, ४ अभीक्ष्ण-सदा वारम्वार ज्ञान में उपयोग लगाना, ५ संवेग-वैराग्यभाव रखना, ६ सुपात्र को यथा शक्ति दान देना, ७ तपश्चर्या करना, ८-९ संघ और साधू की वैयावृत्य करके समाधि उपजाना, १०-१३ अर्हंत, आचार्य, बहुसूत्री और शास्त्र-इन चारों की आज्ञाका भक्ति-पूर्वक आराधन करना, १४ सामायिकादि छः आवश्यक, निरंतर परम शुद्ध भाव से करना, १५ सम्यग्-ज्ञानादि जो मोक्ष मार्ग है, उसकी अनुष्ठान और उपदेश आदि द्वारा प्रभावना-महिमा प्रगट करना, और १६ अर्हंत शासन के अनुष्ठान करने वाले ज्ञानी, तपस्वी, बाल-वृद्ध-साधु, शिष्य, ग्लानी (रोगी) आदि की वत्सलता भक्ति करना। इन सोलह कामों के करने से, तथा इन में से, २-४ आदि यथा शक्ति गुणोंका आराधन करने से जीव, तीर्थंकर गोत्र उपार्जन करता है। ये सोलह बोल, उपरोक्त गाथा में कहे हुए बीस बोलों में ही समाजाते हैं।

प्रकरण–पहिला

"अर्हंत–गुणानुवाद"

अहो अर्हंत भगवंत! आप पूर्व जन्म में बीस बोलोंमें से कुछ या सब बोलों की आराधना करके, महान्–पुण्य रूप महालक्ष्मी का संचय करके, मध्य में स्वर्ग नर्क का एक भव करके, मति श्रुति अवधी इन तीन ज्ञानों से युक्त होकर, सर्वोत्तम निष्कलङ्क कुल में मातेश्वरी को उत्तमोत्तम १४ स्वप्न अवलोकन होने के साथ ही अवतरते हो। उसे च्यवन कल्याण कहते हैं। उस समय आपके पुण्य के प्रभाव से आपके पिताश्रीजी के घरमें उत्तम द्रव्य (रत्न सुवर्ण वस्त्राभूषण व सुगन्धित द्रव्यों) की वृष्टि होती है, घर-पुर-देशमें, धन-धान्य-निरोगता-सुवृष्टि आदि सुख–संपत्ति की वृद्धि होती है, मातेश्वरी को शुभ दोहद–डोहले होते हैं, वे दोहद देवयोग से सर्व पूर्ण होते हैं; नव मास आदि काल सुख से पूर्ण होता है। जब आप जन्म धारण करते हो उसवक्त तीनों ही लोक में महा दिव्य प्रकाश होता है जिसमे आश्चर्य–चकित हो नर्क के जीवों को निरंतर दुःख देने वाले यम–परमाधामी भी, नेरियों (नर्कके जीवों) को मारना छोड़ देते हैं। अस्तु जब निरंतर दुःखानुभव करने वाले नर्क के जीवों को भी सुखानुभव होता है तो अन्य जीवों को सुख होवे, इस में संशय ही क्या? अर्थात् आप के जन्म के समय निगोद से लगाकर सर्वार्थ-सिद्ध तक सुख शांति का वरताव होता है। उस समय आपके

पुण्य से आकृष्ट (खेंचे) हुए छप्पन्न कुमारिका देवी, और चौंसठ इन्द्र आदि असंख्य देव देवी, और आपके पिता आदि अनेक गण मनुष्य, जन्मोत्सव बड़ी धूम धाम के साथ करते हैं। इसे जन्म कल्याण कहते हैं।

—"जन्मकाल ही महापुरुषों का जब करता है जग कल्यान;
तो फिर समझ लीजिये उनका कैसा होगा भविष्य महान।"

अहो परमैश्वर्य के धारक प्रभू! आपके शरीर की रचना भी एक अलौकिक–अद्भुत होती है। समचउरंस संस्थान से संस्थित अंगोपांग, सब संपूर्ण अत्यंत मनोहर मानोपेत होते हैं। पर्वत के शिखर जैसा १२ अंगुल ऊंचा, अतिश्याम (काले) चिकने कुंचली पड़े हुए दक्षिणावर्त सघन बालों से भरा हुआ, सुशोभित मस्तक है। अष्टमी के चन्द्र जैसा झलझलाट करता हुआ ललाट (लिल्लाड) है। संपूर्ण चन्द्र तुल्य गोलाकार सौम्य प्रदीप्त कान्तीवंत मुखारविंद है। परमाणोपेत दोनों कर्ण हैं। धनुषाकार काली भौं है। कमल-पुष्प सम विकसित नेत्र हैं। गरुड़ पक्षी जैसी लम्बी सरल नासिका है। दाड़िम की कली (दाणे) जैसे अत्यन्त-श्वेत पंक्तिबन्ध ३२ दाँत हैं। शंख जैसी चार अंगुल प्रमाण ग्रीवा (गर्दन,) सिंह समान स्कन्ध और नगर के प्रधान द्वार की भोगल जैसे जानु (घुटने) तक लटकते हुए हाथ हैं। रक्तवर्ण, मांस से पुष्ट, चन्द्र–सूर्य–शंख–चक्र–साथीया–मच्छ आदि सर्व शुभ लक्षणों से अलंकृत करतल (हथेली) हैं। छिद्र रहित करांगुली, और रक्त वर्ण नख हैं। विस्तीर्ण, विशाल (चौड़ा), पुष्ट तथा श्रीवत्स साथियेसे अंकित हृदय है। पुष्ट, उतरते हुए पासे वाला, मत्स्य (मच्छ) जैसा उदर (पेट) है। पद्म कमल जैसी विकस्वर गंगावर्त–सी नाभी है। केसरी सिंह के समान कटि भाग है। अश्व सम शुभ पुरुष चिन्ह है। कपोत जैसा निर्लेप स्थण्डिलस्थान है। हाथी की सूंड जैसी उतरती हुई जंघा और मांस से पुष्ट शुभ जानू (गोंटे) हैं। कछुवे जैसा सुसंस्थित चरण (पग) और रक्त वर्ण वाले चिकने नख हैं। पर्वत–मगर–ध्वजा–आदि सर्व

शुभ लक्षणों से अलंकृत, उदय होते हुए सूर्य जैसे दैदिप्यमान रक्त वर्ण वाले चरणतल हैं। किं बहुना आप का सभी शरीर, एक हजार आठ उत्तमोत्तम लक्षण तथा तिल मश आदि व्यंजन करके विभूषित, सर्व दोषों से वर्जित, निर्धूम अग्नि एवं ऊगते सूर्य जैसा देदिप्यमान, भलभलाट करता हुआ अति ही सुन्दर मनोहर होता है। चन्द्रमा के प्रकाश जैसी शरीर की प्रभा पड़ती है। नख और केश (बाल) मर्यादा से अधिक अशोभनीक बढते नही हैं। रक्त और मांस गोदुग्ध से भी अति उज्वल (श्वेत) और मधुर (मिष्ट) होता है। श्वाशोश्वास में पद्म कमल से भी अधिक सुगन्ध महकती है। आपके आहार और निहार को चर्मचक्षुधारक सामान्य मनुष्य नहीं देख सकते, अवधी आदि ज्ञान वाले ही देख सकते हैं। शरीर को किसी भी प्रकार का अशुभ लेप नहीं लगता। ऐसे सर्वोत्तम शरीर के धारक होते हैं। समस्त लोक में शांत राग रूप (सर्वोत्तम) प्रमाणु मानो इतने ही थे कि जितने से आपका शरीर बना है; क्योंकि आपके समान अत्युत्तम शरीर का धारक, इस जगत में अन्य कोई भी नहीं है। जैसे तारागणों को जन्म देनेवाली तो सब दिशाएँ है परन्तु सूर्यको जन्म देनेवाली तो अकेली पूर्व दिशा ही है तैसे ही आप जैसे पुत्र रत्न को जन्म देनेवाली रत्न कूंख धारणी सतीशिरोमणी एक आप ही की माता है।

अहो भगवंत ! आप तीन ज्ञान सहित जन्म लेते हो, इस लिये आपको अपने कर्तव्य कर्म का ज्ञान शुरू से ही होता है। तदनुसार आप संसार व्यवहार साधने के लिये तथा पूर्वोपार्जित भोगावली कर्मों को क्षय करने के लिए ही भाव वैराग्य बरते हुए रुक्षवृत्ति से संसार कार्य करते हो; अतः संसार सागर में रहते हुए भी जल में कमल के समान निर्बन्ध रहते हो। अर्थात् कर्मों द्वारा बद्ध नहीं होते हो।

अहो दया सिन्धू ! आप दीन जनों के उद्धार के लिये, धर्म

परायण जनों को धर्म का उज्ज्वल मार्ग दर्शाने के लिये या धर्म की प्रभावना (उन्नति) करने के लिये, जीत व्यवहार का अनुसरण करके दीक्षा जैसे अत्युत्तम कार्य में भी विलम्ब करते हो, और बारह महीने तक निरंतर एक क्रोड़ आठ लाख सोनैये (६ माशे सुवर्ण की मोहर) का अमोघ धारा से सवा पहर दिन चढ़े तक दान देते हो ! बारह महीने में तीन अर्ब अठासी क्रोड़ अस्सी लाख (३,८८,८०,०००००) सोनैये (मोहरों) का दान देते हो । और आप के दान की महिमा भी अचिन्त्य है, अर्थात् आपके दिये दान को केवल दरिद्र लोग ही ग्रहण करते हैं, ऐसा नहीं है । परन्तु बड़े बड़े चक्रवर्ती महाराजा और शेठ सेनापति आदि मान्य पुरुष भी बड़े आदर भाव से ग्रहण करते हैं; क्यों कि आपके हाथ का दान अभव्य को प्राप्त नहीं होता है, और आपके हाथ का दिया हुआ सोनैया जिसके घरमें जबतक रहता है तबतक उस घरमें महान् रोग, दरिद्रता, उपद्रव आदि दुःख नहीं होते हैं। अहो प्रभु ! आपके हाथ से दिये हुए पुद्गलों में भी, कैसी विचित्र शक्ति प्राप्त होजाती है । हाँ, नीतिकारों ने ठीक ही तो कहा है-

" उत्तमों के संग से अति नीच भी उत्तम बने ;
स्पर्श मणि के संग से लोहा सुखद कांचन बने । "

अहो कृपालु देव ! आपको निश्चय है कि मैं इस भवके अंत में अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करूँगा, तो भी कर्त्तव्य परायण होकर निश्चय की सिद्धि के लिये व्यवहार साधने के अर्थ, सर्व सांसारिक राज ऋद्धि का त्रिविध त्रिविध त्याग करके दिगम्बर-नग्न होते हो और सुगन्धित-कोमल केशों का मस्तक से पंच मुष्टी लोच कर, 'सिद्धाणं नमो किच्चा' अर्थात् सिद्ध भगवंत को नमस्कार कर, दीक्षा वृत्ति धारण करते हो । अर्थात् जावजीव पर्यंत सर्वथा सावद्य जोग (जिससे दूसरे को दुःख होवे, ऐसे मन वचन काय की प्रवृत्ति) का त्याग करते हो कि उसी समय आपको चौथे मनः पर्यव ज्ञान की प्राप्ति होजाती है, और उसी समय इन्द्र आपके स्कन्ध पर

एक देव-दुष्य नामक वस्त्र की स्थापना करते हैं। परन्तु आप उस वस्त्र को किसी भी कार्य में नहीं लेते हो, अहो आश्चर्यकारी है वैराग्यदशा आपकी! वह वस्त्र थोड़े ही काल बाद कहीं गिरजाता है, और आप अप्रमादी भाव से भूमण्डल में अप्रतिवन्ध रूप से विहार करते रहते हो।

अहो जिनेन्द्र! आप जिस कार्य के लिये प्रवृत्त होते हो, उस कार्य को दत्तचित से पूर्ण निश्चल रह कर पूरा करते हो, यही आपकी शूरता-वीरता-धीरता रूप उत्तमता का लक्षण है। अर्थात् दीक्षा धारण किये बाद पूर्वोपार्जित बाकी रहे कर्मों का नाश करते समय, देव-दानव-मानवों द्वारा किये हुए अनेक दुःसह परिसह उपसर्ग, आप समभाव के साथ सहन करते हो। उन उपसर्गों से आपके परिणाम किंचित् मात्र भी कम्पायमान-चलाय मान नहीं होते हैं, प्रत्युत विशेष रूप से उन उपसर्गों के सम्मुख दृढ होने के कारण वे बेचारे उपसर्ग अपने आप ही डरकर शांत पड़जाते हैं। तप करते हुए आप कदापि विश्रान्ति धारण नहीं करते। कर्म शत्रुओं को चक-चूर करने के लिए चौथ[1] छट्ट[2]-अठ्ठम[3]-मास-दो-मास यावत् छः छः मास[4] की अत्युग्र तपश्चर्या करके क्षुधा-तृषा-शीत-ताप-दंशमच्छर आदि अनेक दुष्कर काय-क्लेश तप करने में निरंतर संलग्न रहते हो। और नये कर्मोंका बन्धन न होवे, इस लिये मौन वृत्ति धारण करके, एकान्त वासी बनके, सदा ज्ञान-ध्यान-तप-संयम में अपनी आत्मा को तल्लीन बनाके, परम शांत रस में रमण करते ही रहते हो, कि जिससे वे कर्म आपका स्पर्श तक नहीं करते, बेचारे सदा दूर ही रहते हैं।

अहो नाथ! मुझे आश्चर्य होता है, कि—संसारी जन, शत्रुओं का पराजय करने के लिए क्रोध में धमधमायमान होकर, संग्राम आदि की योजना करते हैं: परंतु आपने तो क्षमा-शांत भाव से शत्रुओं का नाश किया, यह अपूर्व युक्ति आपने बहुत ही अच्छी निकाली। इस

---

१ एक उपवास, २ बेला (दो उपवास) ३ तेला (तीन उपवास)
४ छः महीने के उपवास।

संसार में प्रत्यक्ष ही देखते हैं, कि—उष्णता से शीत का जोर अधिक होता है। * धूप उतनी शीघ्रता से दहन नहीं कर सकती जितनी कि-शीघ्रता से ठण्ड और वर्फ दहन कर सकती है। अर्थात् शीत काल (सियाले) में जब पाला पड़ता है, तब क्षण मात्र में ही हरे-भरे क्षेत्रसमूह दग्ध होते चले जाते हैं। अस्तु, आध्यात्मिक परम शान्ति की प्रबलता से, कर्म रूप शत्रुओं का दहन होवे तो, इस में आश्चर्य ही क्या है? इसी भाव पर एक महा कविने, अपनी कविता-मयी भाषा में क्या ही अनूठा कहा है—

—"हाँ, क्रोध का तो नाथ तुमने प्रथम ही क्षय कर दिया।
फिर कर्म-रिपुओं पर कहो कैसे विजय हासिल किया॥
हेमंत में अतिही सुशीतल तुहिन पड़ता है यदा।
क्या हरितपादपमय सघन वन ध्वस्त नहीं होते तदा॥"

अहो प्रभू! इस अनोखी युक्ति से बेचारे चार (ज्ञानावर्णी, दर्शनावर्णी, मोहनीय और अंतराय) घन घातिक कर्म शत्रू, जब त्रास पाकर थोड़े ही काल में पलायन कर जाते हैं, तो उसी समय आपकी अनंत आत्मिक शक्ति प्रगट हो जाती है। अर्थात् अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत चारित्र और अनंत वीर्य—इन अनंत चतुष्टय की प्राप्ति होती है; जिससे आप सर्व द्रव्य—क्षेत्र—काल—भाव और भव को एक ही समय में जानने तथा देखनेवाले होजाते हो, क्षायिक यथाख्यात चारित्र और अनंत दान—लाभ—भोग—उपभोग और वीर्य लब्धि की प्राप्ति होजाती है, और पूर्वोपार्जित तीर्थंकरनामकर्म—रूप महापुण्य का उदय होने से स्वाभाविक एवं देवकृत अनेक महान ऋद्धियाँ प्रगट होजाती हैं। जहां परिषदा का विशेष आगम होने का अवसर होता है, वहां समवसरण की अलौकिक रचना होती है, अर्थात् पृथवी से अढाई कोस ऊंचे—२०००० पंक्तियों से युक्त—चांदी सुवर्ण और रत्नों के त्रिकोट (गढ) के अन्दर, मध्य भाग में मणिरत्न के सिंहासन पर भी चार अंगुल अधर, केवल द्रव्य रूप छत्र-चमर-भामंडल से युक्त विराजते हो। तब चार ही दिशा में आप के चार

* [illegible] को पाला ([illegible]) कहते हैं।

मुख दीखते हैं, और अशोक नामक वृक्ष सदा छाया करता है। सहश्र ध्वजा के परिवार से युक्त आगे की तरफ इन्द्र ध्वजा फरराती दीखती है। धर्म चक्र और साढे बारह करोड़ वाजों का आकाश में गरणाट शब्द सुनाई देता है। योजन प्रमाण अचित्त पुष्पों की वृष्टि, इत्यादि अतिशय दीखते हैं। परन्तु यह सब विश्रसा पुद्गल होने से दीखते तो हैं, किन्तु हाथ में नहीं आते हैं। और इस लिये इन से किसी प्रकार की अयत्ना भी नहीं होती है।

अहो ईश्वर ! आपके सद्गुण रूप सुरभिगन्ध से आकर्पित हुई और सद्बोध श्रवण करने की पिपासु, द्वादश प्रकार की परिषदा (४ जात-के देवता, ४ जात की देवांगना, मनुष्य मनुष्यणी, तिर्यंच तिर्यंचणी, और साधू साध्वी, श्रावक श्राविका) का क्रोड़ों की संख्या में आगमन होता है। उस समय आप का सद्बोध भी बड़ा ही आश्चर्य कारक होता है, अर्थात् चार कोस में भरी हुई परिषदा, आपके फरमाये हुये वचनों को, एकसां बराबर श्रवण करती है। आर्य, अनार्य, पशु, पक्षी आदि सभी को अपनी अपनी भाषा में बोध प्रगमता है, सब समझ जाते हैं। और सिंह बकरी आदि का जो जाति विरोध है वह, अथवा जन्मान्तर का वैर विरोध भी समवसरण में बिलकुल ही स्मरण नहीं होता है, सब जीव आपस में स्नेह भाव—मैत्री भाव से वर्तते हैं। छः राग और तीस रागणियों से भरा हुआ, सरल और ऊंचे शब्दों में गहन गंभीर्यता युक्त, परस्पर विरोध रहित, पूर्व संशय को हरण कर ने वाला, नया संशय न उपजाने वाला, भाषा के सर्व दोषों से रहित, देश काल उचितता तात्विक ज्ञान से भरपूर, मध्यस्थ रूप, निर्भय रूप, विलम्ब रहित, हर्षयुक्त, भादवे के मेघ की तरह या केशरी सिंह की तरह गाजते हुए गुंजारव शब्दों में धर्मोपदेश फरमाते हैं,—जिसे श्रवण कर बड़े बड़े सुरेन्द्र, नरेन्द्र, विद्वद्वरेन्द्र चमत्कार को प्राप्त होते हैं। श्रोताओं के हृदय में हूबहू रस प्रगमता है, वाणी में तल्लीन हो अहा ! अहा ! ! करते हैं। और अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। अहो प्रभू ! इस जगत में आप जैसा उपकार करने का, अन्य किसी में ज़रा भी सामर्थ्य नहीं है।

अहो महादयालु ! आप के महान् पुण्य प्रताप के प्रभाव से आप जिधर पधारते हो उधर ही आगे की भूमि, खड्डे और टेकरे रहित होकर बराबर हो जाती है, काँटे अधोमुख होजाते हैं, ऋतू भी सम प्रगमती है—अर्थात् उष्ण काल में शीतलता और शीतकाल में उष्णता रूप हो सब जीवों को सुख देती है। आप विराजते हो वहां चारों तरफ मंद-मंद शीतल सुगन्धित पवन चलती है, जिससे सर्व दुर्गन्ध दूर हो जाती है तथा धीमी धीमी सुगन्धित अचित्त गंधोदक की वृष्टि से सब रज दब जाती है। अशुभ वर्ण—गंध—रस—स्पर्श का नाश हो, शुभ प्रगमते हैं। पच्चीस-पच्चीस योजन में मारी मृगी (प्लेग) इत्यादि किसी प्रकार की बिमारी होवे तो सर्वथा नष्ट हो जाती है। टीडी मूषक आदि क्षुद्र जीवों की उत्पत्ति नहीं होती है। स्वचक्र परचक्र का भय नहीं होता है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष—दुष्काल नहीं पड़ता है। और पहिले किसी भी प्रकार का उपद्रव होवे तो भगवंत के पधारने से वह भी सर्व नष्ट होजाता है। वाह वा पुण्य प्रतापी पुरुषोत्तम अद्वितीय परमात्मा ! आपके आश्रितों को भी आपका सहवास, जबकि द्रव्य से ऐसा सुख देनेवाला होता है, तो फिर आपके भाविक—भक्त जन, यदि अनंत अक्षय मोक्ष के सुख प्राप्त करें तो इस में आश्चर्य ही किस बात का ?

अहो परमात्मा ! यह तो आपके बाह्यगुणों का यत्किंचित् वर्णन हुआ। आप जैसे बाह्यगुणों द्वारा सुशोभित हो, तैसे [illegible] द्वारा भी पवित्र हो, अर्थात् अज्ञान, मिथ्यात्व, क्रोध [illegible] रति, अरति, निद्रा, शोक, हिंसा, झूठ, चोरी, [illegible] क्रीड़ा, मान, मोह, ममत्व इत्यादि सब दु[illegible] का नाश करके आप निर्दोषी परम पवि[illegible] निरपद्रव [illegible] नाम हैं। जैसे:—

१–आपने घन घातिक कर्मोंका नाश किया, अतः आप 'अरिहंत' कहलाते हैं, २ भवांकुर तथा कर्मांकुर का नाश किया, अतः 'अरुहंत' कहलाते हैं ३ सुरेन्द्र, नरेन्द्रादि सब के पूज्य हुये इसलिये 'अर्हंत' कहलाते हैं ४ ज्ञानवंत, महात्मवंत, यशश्वी, वैरागी, मुक्त, रूपवंत, अनंतबली, तपश्वी, श्रीमंत, धर्मात्मा, सर्व पूज्य, परमेश्वर–इन बारह गुणों से युक्त हुये जिससे 'भगवंत' कहलाये ६ परम उत्कृष्ट पदको प्राप्त हुवे अथवा सर्व के इष्ट–सुख के कर्ता हुये जिससे 'परमेष्टी' कहलाये ७ सर्व के रक्षक एवं सब के मालिक हुए, जिससे 'परमेश्वर' कहलाये ८ गुरू के उपदेश बिना स्वयमेव प्रतिबोध पाये, इस लिये 'स्वयंबुद्ध' या 'सहस बुद्ध' कहलाये ९ साधू–साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चार तीर्थ की स्थापना की, इस लिये 'तीर्थंकर' कहलाये १० सर्व पुरुषों से अत्युत्तम होने से 'पुरुषोत्तम' ११ शूर–वीर–धीर होने से 'पुरुष सिंह' १५ सर्व देवों के पूज्य होने से 'देवाधिदेव' १३ रागद्वेष के क्षय होने से 'वीतराग' १४ सब जगज्जीवों के रक्षक होने से 'लोक नाथ' १५ जन्मते ही त्रिलोकमें प्रकाश करने से अथवा ज्ञान द्वारा सर्व लोक में प्रकाश करने से 'लोकप्रकाशक' १५ सातों भय के नाश करने से 'अभय' १६ अनंत ज्ञानादि ऋद्धि के धारक होने से 'अनंत' १७ सर्व भव्यों को मर्यादा में चलाने वाले होने से 'महा गोप' १८ मोक्ष पुरी में जाते हुये अन्य भव्य गणों को ज्ञानादि संबल देकर साथ रखने से 'सार्थवाह' १९ चारों दिशा में आज्ञा द्वारा धर्म का प्रसार करने से 'धर्म चक्री' २० संसार रूप समुद्र में पडे हुए जीवोंको आधार भूत होने से 'धर्मद्वीप' २१ अनेकान्त वाद के स्थापक होने से 'स्याद्वादी' २२ सर्व चराचर पदार्थों के ज्ञाता होने से 'सर्वज्ञ' २३ सर्व पदार्थों के द्रष्टा होने से 'सर्व दर्शी' २४ संसार से पार हुये अर्थात पुनर्जन्म रहित हुये अथवा सर्व कार्य की समाप्ति करके इच्छा रहित हुये इसलिये 'पारंगत' २५ हितोपदेश द्वारा सर्व के रक्षक होनेसे 'आप्त' २६ जिनका स्वरूप अज्ञानियों के लक्षमें न आवे इसलिये 'अलक्ष' २७ चिद् का अर्थ ज्ञान और घन का अर्थ समूह है, अस्तु संपूर्ण ज्ञान–मय होने से 'चिद्–घन' २८ आप के आत्म–प्रदेशों

पर कर्म रूप अंजन नहीं लगता, अतः 'निरंजन' २९ अनंत दान आदि लब्धि के प्रगट होजाने से सब कुछ कर सकने की सामर्थ्य वाले हुये, इसलिये 'प्रभू' ३० सर्व प्रकार के कर्मों का आवरण दूर होने से, चैतन्य का अपना निज स्वरूप प्रगट हुआ, इसलिये 'केवली' ३९ परम उत्कृष्ट आत्मपद को प्राप्त होने से 'परमात्मा'। ऐसे ऐसे गुण निष्पन्न एक सहश्र और आठ नाम का कथन तो जिन सहश्रीमें किया गया है परन्तु आप तो अनंत गुणों के धारक हो इसलिये आपके अनंत ही नाम हैं, जिनका वर्णन करता हुआ कौन पार पाने समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं।

अहो कृपानिधे ! धर्म की आदि के कर्त्ता आप ही हो, अर्थात् आपके पहले धर्मोपदेशक कोई भी नहीं हुआ। जो जो धर्मोपदेशक धर्मोपदेश करके अपना अपना नाम चलाते हैं; वह सब कुछ आपही का दिया हुवा ज्ञान–दान का प्रसाद है। ऐसे ही सर्व जगज्जीवों को अभय के दाता, ज्ञानचक्षु के दाता, मुक्ति मार्गके बताने वाले, जन्म–जरा–मरण–आधि–व्याधि–उपाधि के दुःख को मिटाकर शरण में रखने वाले, अनंत अक्षय तप संयम रूप जीवत्व (खरची) के देनेवाले, पुनः किसी भी

शिवोऽथादि संख्योऽथ बुद्धः पुराणः,
पुमानप्यलक्ष्योऽप्यनेकोऽप्येकः ।
प्रकृत्यात्म वृत्त्याप्युपाधि–स्वभावः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥

अर्थात्– १ [illegible] उपद्रव से रहित होने से आप 'शिव' हो २ अपने तीर्थ की आदि के कर्ता होने से आप 'आदि-संख्य' हो ३ तत्व-पदार्थों के [illegible] होने से [illegible] ४ अनादि हो इसलिये 'पुराण' [illegible]

प्रकार के दुःखमें जीव नहीं पड़ें—ऐसे सद्बोध के करनेवाले एक आपही हो ! अहो दानेश्वर आपके परमोपकार का मैं कहां तक कथन करूं ! सर्व जगजन्तुओं पर आपका अनंतानंत उपकार प्रवर्तरहा है ।

अहो निरोपम ! मैं आपकी तुलना किसी के भी साथ नहीं कर सकता हूं । क्योंकि संसार में के अन्य देव कहलाने—वाले कितने ही देवता, स्त्रियों के वशीभूत होकर अपने किए हुए कोट्यानुबन्ध तप को हार गये, बन बन में उनके साथ नाचते फिरे, स्त्रियोंके वियोग से रुदन किया, विषयासक्त हो पुत्री के साथ गमन किया, परस्त्री को अपनी स्त्री के डरके मारे जटा में छिपा रक्खी, स्त्रियों के संमुख निर्लज्ज होने के कारण ऋषियों ने शाप दिया जिससे लिंग--पतन हुवा, शरीर में सहस्रों भग पड़े, लांछन लगा, कितने ही नाम धारी देव गांजा भङ्ग आदिके नशे में उन्मत्त रहे, कितने ही अन्धे-लूले-लंगड़े-काणे-कुष्टी बने। ऐसी२ अनेक कथाएँ, उन देवों के भक्तों ने ही, उनके पुराणों में लिखी हैं तथा उपर्युक्त कलङ्कों की स्थापना की है। परन्तु अहो निर्दोषी प्रभू ! आपको चोरी करने की भी कुछ जरूरत नहीं है, क्योंकि आपके पास अनंत अक्षय ज्ञानादि ऋद्धि का खजाना है, जिससे आपकी तृष्णा का सर्वथा नाश होगया है । और जैसे कल्पांतकाल का क्षुब्ध हुआ पवन भी मेरू पर्वत को नहीं हिला सकता है, तैसे ही इन्द्र की अपसराएँ भी आपके चित्त को चलित नहीं करसकती हैं तो दूसरी स्त्रियों का कहना ही क्या ? और ज्ञान वैराग्य में आपकी आत्मा सदा तल्लीन रहती है, इसलिये आपको अपने मन को शांत करने के लिए नशा, गायन, वाजित्र, नृत्य वगैरह किसी की भी आवश्यकता नहीं है । आपने शत्रुओं के उत्पन्न होने का मूल जो राग द्वेष है उसका नाश कर दिया, इसलिये आपका कोई भी शत्रु न रहा तो फिर आपको शस्त्रादि धारण करने की क्या जरूरत है ? अर्थात् कुछ नहीं । आप सर्वज्ञ हो, इसलिये आपको याद दास्त के लिये माला सुमरणी आदि रखने की भी कुछ जरूरत नहीं । आप महा संतोषी सदा तृप्त हो, इसलिये आपको धूप पुष्प फल नैवेद (पूजापे) की कदापि इच्छा नहीं होती है । आपका मूल शरीर ही १००८ उत्तम लक्षण और

सर्व उत्तमोत्तम विभूतियों द्वारा स्वतः ही अत्यन्त सुशोभित हैं, इसलिये आपको वस्त्राभुषण आदि किसी भी प्रकार के शृंगार की जरूरत नहीं। आप जगत् प्रकाशी हो, इसलिये आपके आगे दीपक के प्रकाश की कुछ जरूरत नहीं। आप महा दयालु हो, इसलिये आपको पृथवी-पाणी-अग्नि-वायु-वनस्पति और त्रस जीवों की हिंसा करके खुश करने वाले भी बड़ी जबरदस्त भूल करते हैं, अर्थात् आप हिंसा से कदापि संतुष्ट नहीं होते हो। इत्यादि आपके अनेक सद्गुणों का मेरे हृदय में भास होने से, आपके सिवा अन्य सब देव केवल नाम मात्र के ही भले हीं देव हों, परन्तु गुणों से तो कुदेवही भाषित होते हैं; और सच्चे देवाधि देव तो आपही हो—ऐसा मुझे निश्चय हुआ है।

अहो गुणागर देव! आपके कितने ही गुण ऐसे हैं, जो अल्पज्ञ जीवोंको बड़ा ही आश्चर्य उत्पन्न करते हैं। जैसे-१ आप सर्वज्ञ होकर भी जीव की आदि और अलोक का अंत नहीं जानते हो! २ सर्व दर्शी होकर भी स्वप्न कदापि नहीं देखते हो! ३ वीतराग होकर भी अपनी आज्ञाका आराधन किये बिना मोक्ष नहीं देते हो ४ द्वेष रहित हो फिरभी, आपकी आज्ञा भंग करने वाले को अनंत संसार परिभ्रमण करना पड़ता है ४ स्त्रीके त्यागी होकर भी शिवरमणी (मोक्ष) की अभिलाषा है ५ वज्र आदि आयुध (शस्त्र) रहित होकर भी 'मोह' नामक महा दैत्य का संहार किया ६ राज्यासन के त्यागी होकर भी जगत् नाथ कहलाते हो! ७ अनंत बलवंत होकर भी एक कुंथुवे की भी घात नहीं कर सकते हो ८ अनंत ऋद्धि के धारक होकर भी भिक्षावृत्ति से निर्वाह करते हो ९ सर्व-त्यागी होकर भी त्रिगड़े की विभूति भोगते दीखते हो १० आप समभावी हो तथापि आपकी निंदा करने वाला दुःख पाता है, और वंदन करने वाला सुख पाता है ११ सबको अभय दान के देने वाले होकर भी पाखण्डियों का मान मर्दन करने के लिये आपके आगे आकाश में धर्म चक्र गड़गड़ाट करता हुआ चलता है १२ दयालु होकर भी, कर्म शत्रुओं का समूल नाश कर डाला १३ तीर्थ की स्थापना करके भी और गुप्त निधान तथा अनेक ऋद्धिसिद्धी जानते देखते हुए भी अपने

सेवकों को नहीं बताते हो १४ विनय के सागर होकर भी, किसी के आगे मस्तक नहीं झुकाते हो-दीनता नहीं बताते हो। १५ निर्मोही होकर भी, सेवकों को तारते हो १६ अद्वेषी होकर भी निर्गुणों का संग त्यागते हो। ऐसी ऐसी अनेक बातें है, मैं कहां तक लिखूँ! अहो नाथ आपका चरित्र बड़ाही आश्चर्य-जनक है।

अहो जिनेश्वर! आपके नाम द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार के गुणों का प्रकाश दरसाते हैं। जैसे—१ "ऋषति गच्छति परम पदमिति ऋषभः"— अर्थात् जो परम पद (मोक्ष) को जाता है वह ऋषभदेव। और आपकी माता ने चौदह स्वप्नों की आदि में ऋषभ—वृषभ (बैल) का स्वप्न देखा था अथवा आपके चरण (पग) में बैल का लांछन (चिन्ह) था इस लिये आपका नाम ऋषभदेवजी रक्खा गया। २ "परिषहादिभिर्नजितः इत्यजितः"— परिसह, उपसर्ग तथा कर्म आदि दुर्जय शत्रुओं का पराजय किया, इसलिये अजित। और आप गर्भ में थे, उस समय आपकी माता अपने पति से संवाद में जीत गई थी, इसलिये भी आपका नाम अजितनाथजी रक्खा ३ "शं सुखं भवत्यस्मिन् स्तुते स शंभवः"— जिनको स्तुति करने से सुखकी प्राप्ति होवे वह शंभव। और आप गर्भावास में थे, उस समय देश में पड़ा हुआ दुष्काल मिटकर सुकाल हुआ तथा धान्य आदि की बहुत उत्पत्ति हुई इसलिये आप शंभवनाथ कहे गये ४ "अभिनंद्यते देवेन्द्रादिभिरित्यभिनंदनः"— जिनकी देवेन्द्रादि ने स्तुति करी, सो अभिनंदन। और आप जब से गर्भ में पधारे, तब से बहुत बार शक्रेन्द्र आए और आपकी स्तुति की, इसलिये आपको अभिनंदन कहते हैं। ५ "शोभना मतिरस्येति सुमतिः"— श्रेष्ठ मति अर्थात् बुद्धि के धारक होने से सुमति। आपके गर्भावास में आए पीछे, आपकी माता की बुद्धि बहुत निर्मल और प्रबल होगई थी जिनसे आपको सुमतिनाथ कहा ६ "निष्पकतामंगीकृत्य पद्मस्येव प्रभाऽस्य पद्मप्रभः"— विषयकषायरूप कीचड़ से पद्म कमल के समान अलग रहे अतः पद्म प्रभु। और पद्म कमल जैसी आपके शरीर की रक्त प्रभा, तथा आपकी माता को पद्म कमल की शय्या पर शयन करने का

डोहला (वांछा) उत्पन्न हुआ जो स्वयं इन्द्रने पूर्ण किया, इन दो कारणों से आपका पद्म प्रभ नाम रक्खा ७ "शोभनौ पार्श्वो अस्य सुपार्श्वः"—दोनों पासे शोभनीक होने से सुपार्श्व। और आपकी माता की दोनों ओर की पसलियां पहले बांकी—टेढी थी, किन्तु आपके गर्भ में आते ही सीधी होगई–इसलिये सुपार्श्वनाथ नाम दिया ८ "चन्द्रस्येव प्रभा, ज्योत्स्ना सौम्यलेश्याविशेषाऽस्य चन्द्र प्रभः"— चन्द्रमा के जैसी सौम्यलेश्या होने से चन्द्रप्रभ। और आपके शरीर की चन्द्रमा की जैसी कान्ति थी तथा आप गर्भ में थे उस समय आपकी माताजी को चन्द्रमा घोल कर पीजाने का डोहला उत्पन्न हुआ था, जो बुद्धि के प्रभाव से पूर्ण किया गया, इसलिये चन्द्र प्रभू नाम दिया। ९ "शोभनो विधिर्विधानमस्य सुविधिः"—जिसकी अच्छी विधि अर्थात् क्रिया हो वह सुविधि। और आपके गर्भ में आये बाद, आपकी माताजी अच्छी विधि यानी विशेष चतुरता से रहने लगी–इसलिये सुविधि नाथ नाम दिया, १० "सकल—सत्व—संताप हरणात् शीतलः"— सकल जीवों के संताप का नाश किया और उन्हें शीतल-शांत बनाया, इसलिये शीतल। और आपके पिताजी को ज्वर होने से दाह होरहा था और अनेक उपचारों से भी शांत नहीं हुआ था, किन्तु आपके गर्भ में बिराजमान हुए बाद आपकी माता के हाथ के स्पर्श से वह दाह एकदम शांत होगया–मिटगया–इसलिये शीतलनाथ ११ "श्रेयन् समस्त भुवनस्येव हितकरः प्राकृत शैल्या श्रान्द त्वाच्च श्रेयांस इत्युच्यते:"— सर्व जग जन्तुओं के एकांत हित ही के कर्ता, सो श्रेयांस। और आपके पिता के घरमें एक देवशय्या थी, उस पर शयन करने वाला व्यक्ति अवश्य असमाधि पाता था: परन्तु आप गर्भ में आए तब आपकी माताजी को उस शय्या पर शयन करने की वांछा हुई और शयन किया तथा उन्हें किंचित भी असमाधि न हुई, प्रत्युत अधिक सुख प्राप्त हुआ–इसलिये श्रेयांसनाथ नाम दिया १२ "वसु वसवो पूज्य. वासुपूज्यः"— देवताओं द्वारा पूज्य हो, सो वासु पूज्य। वसुपूज्य राजा के पुत्र, इसलिये वासु पूज्य। आप के गर्भ में आये बाद इन्द्रने आपकी माता की पूजा की इस-लिये वासु पूज्य। वैश्रमन भण्डारी देव ने आपके पिता के घर में वसु

(लक्ष्मी-द्रव्य) की वृष्टि की इसलिये वासु पूज्य नाम दिया १३ "विगतो मलोऽस्य विमलः" विमलज्ञानादि-योगाद्वा विमलः'— अष्ट कर्म रूप मल (मैल) दूर हुआ इसलिये विमल । तथा ज्ञानादि रत्नत्रय की निर्मलता होने से विमल । और जिस समय आप गर्भवास में आए उस समय माताजी की बुद्धि तथा शरीर निर्मल हुआ इसलिये विमल नाथ नाम दिया । १४ " न विद्यते गुणानामंतोऽस्य अनंत; अनतकर्मांश-जयाद्वाऽनंतः"— "अनतानि वा ज्ञानादीनि यस्येत्यनंतः"— गुणों का अंत नहीं, इसलिये अनंत । अनंत कर्मांशों का नाश किया, इसलिये अनंत । अनंत ज्ञानादि चतुष्टय के धारक होने से अनंत । और विचित्र रत्नों से जड़ी हुई रत्नों की माला, जिसके मूल्यका कुछ अंतही नहीं,- ऐसा स्वप्न आपकी माताने देखा-इसलिये अनंतनाथ नाम दिया । १५ "दुर्गतौ पतन्त सत्वसंघातं धारयतीति धर्म्मः"— दुर्गति में पड़ते हुये जीवों को धारण करे अर्थात् उन्हें दुर्गति में न गिरने दे, वह धर्म । और आपके गर्भ में आये पीछे माताजीकी धर्म पर अधिक प्रीति हुई, जिससे धर्म नाथ नाम दिया १६ "शांतियोगात्तदात्मकत्वात्तत्कर्तृकत्वाच्चार्यं शांतिः"— शांतस्वभावी, शांत-स्वरूपी, और शांति के कर्ता होने से शान्ति । तथा देश में मृगी का रोग प्रचलित था, सो आपके गर्भवास में पधारते ही और आपकी माता के चारों दिशा में अवलोकन करते ही सर्व रोग का नाश होकर सारे देश में शांति होगई थी, इसलिये शांति नाथ नाम दिया । १७ "कुः पृथ्वी तस्यां स्थितवानिति कुंथुः"— ' कु ' नाम पृथ्वी का है और ' थु ' नाम स्थिर होने का है, जो पृथ्वी में स्थिरी भूत हो सो कुंथु । और आपके गर्भ में आये पीछे माताजी ने रत्नों के कुंथुओं की राशी देखी, इस लिये कुंथुनाथ नाम दिया १८ "सर्वोत्तम महासत्व कुले य उपजायते, तस्याभिवृद्धये वृद्धैरसावर उदाहृतः"— संसार में सबसे अत्युत्तम महासात्विक कुल में जो उत्पन्न होवे, तथा कुल की अभि वृद्धि करे, सो अर । और आप गर्भ में थे उस समय आपकी माता ने स्वप्न में रत्नमय अर अर्थात् गाड़ी के चक्र का आरा देखा था-इस लिये "अरनाथ" नाम दिया । १९ "परिषहादिमल्लजयनात् निरुक्तात् मल्लिः"— परिषहादि मल्लों को जीतने

से मल्लि। और आप गर्भ में आये उस समय आपकी माता को मालती के फूलों की शय्या में शयन करने का डोहला उत्पन्न हुआ जो देवता ने पूर्ण किया था—इसलिये मल्लिनाथ नाम दिया २० "मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः, शोभनानि व्रतान्यस्येति सुव्रतः, मुनि श्चासौ सुव्रतश्च मुनिसुव्रतः"— जो जगत की तीनों कालकी अवस्थाओं के परिवर्तनों को जाने सो मुनि और जिन के अच्छे व्रत हों सो सुव्रत। इन दोनों अर्थों के मिलने से मुनि सुव्रत नाम हुआ। और आप गर्भ में थे उस समय आपकी माताजी ने मौन सहित उत्तमोत्तम व्रतों की आराधना की थी, इसलिये मुनि सुव्रत नाम दिया २१ "परिषहोपसर्गादिनामनात् नमेरतुवेति विकल्पेनोपांत्येकाराभावपक्षे नमिः"— परिषह और उपसर्ग आदि के आने पर आप बिलकुल ही क्षोभ नहीं पाते हुए उन्हें नमाया, इसलिये नमि नाथ। और आपके पिता की आज्ञा आस पास के सामान्य राजा नहीं मानते थे, पर आपके गर्भ में आये पीछे सब शत्रू अपने आपही आकर नम गये, इसलिये नमिनाथ नाम दिया २२ "धर्म चक्रस्य नेमिवन्नेमिः"— धर्म चक्र की धारा चलाई सो नेमि। और आप गर्भ में पधारे तब माताजी ने अरिष्ट (श्याम) रत्नका धर्म चक्र आकाश में गरणाट करता हुआ देखा, इसलिये अरिष्टनेमि नाम दिया २३ "स्पृशति ज्ञानेन सर्वभावानिति पार्श्व."— सर्व पदार्थों को ज्ञान के द्वारा स्पर्शित करे, इस लिये पार्श्व। और गर्भाशय में थे उस समय आपकी माता जी ने अन्धकार में जाते हुए सर्प का पार्श्व अर्थात् पासा देखा, इसलिये पार्श्वनाथ नाम दिया २४ "विशेषेण ईरयति प्रेरयति कर्माणी न वीर."— जो विशेष रूप से कर्मों को प्रेरे यानी भाग दे, सो वीर। और जन्मते ही सुमेरु नामक सर्वोच्च पर्वत को बाएँ पैरके अंगुष्ट के स्पर्श मात्र से कंपा दिया, बचपन में दैत्य रूप धारण कर छलने आए देवको आपने हराया, अथवा अति घोर परिसह और उपसर्गों को समभाव से सहा—इसलिये 'महावीर' नाम दिया। और आपके गर्भावास में पधारे पीछे आपके पिता के घर में धन धान्य आदि संपत्ति की बहुत ही वृद्धि हुई देख कर 'वर्द्धमान' नाम दिया।

जैसे इन वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरों के नाम

की स्थापना गुणानुसार हुई है, तैसे ही गत अवसर्पिणी काल में के अनंत तीर्थंकरों के नामों की स्थापना भी हुई थी। और इसी भांति आगामी काल में जो अनंत तीर्थंकर होंगे उनके नामों की स्थापना भी होगी। मतलब यह है कि तीर्थंकरों के नाम, द्रव्य और भाव दोनों ही तरह शुभ गुणों से भरपूर होते हैं! और इस बात को जरा दीर्घ दृष्टि से विचारें तो मन में बड़ा आश्चर्य तथा आनन्द होता है कि--जिन्होंने गर्भाशय में रहे ही अपने पुण्य की प्रबलता का सब को सुखदायक उपर्युक्त प्रकार से चमत्कार बताया, वे महान् प्राणी बाहिर आकर अर्थात् जन्म लेकर क्या नहीं करेंगे? अर्थात् सभी अच्छा करेंगे।

"युवाकाल में महापुरुषों से—
होता जग उपकार महान।
युवाकाल क्या बाल्य काल ही—
कर देता नव-शान्ति विधान।
बाल्य काल क्या जन्मकाल ही—
करता सकट का अवसान।
जन्मकाल क्या गर्भ काल ही—
करता उन्नतिमय उत्थान।
प्रातःकाल गर्भगत दिनमणि—
क्या नहीं करता स्वर्ण-विहान।
म्लान कमलदल विकसित होते—
करते हैं मधुकर मधुपान।"

अहो परमात्मन्! आप अचिन्त्य शक्ति के धारक हो, महादिव्य रूप के धारक हो, अलौकिक ऋद्धि से विभूषित हो। गणधर आदि सहस्रों मुनिगणों से वन्दनीय हो; स्याद्वाद द्वारा सत्य-न्याय मोक्ष मार्ग के स्थापक हो; ज्ञान अतिशय, वाग (वाणी) अतिशय, अपायापगमातिशय और पूज्यातिशय, इन चार अतिशयों द्वारा सर्व जगत् के पूज्य हुए हो।

आपकी जघन्य ७ हाथ की और उत्कृष्ट ५०० धनुष्य की अवगाहना होती है, और जघन्य ७२ वर्ष का तथा उत्कृष्ट ८४०००० पूर्व का आयुष्य होता है;- जिसमें कितने ही पूर्व और वर्ष तक श्रमण पर्याय यानी साधुपना पाल कर, केवल पर्याय पाल कर, ग्राम नगर आदि में उग्र विहार कर, सत्य धर्मका प्रकाश कर, अंतिम अवसर में द्वादशांग वाणी रूप रत्न करण्ड को गणधर आचार्य के सिपुर्द कर, अत्यन्त अत्युत्तम भाव समाधि को प्राप्त होकर, अवशिष्ट चार अघातिक कर्मोंका सर्वथा नाश कर आप परम पद-सिद्ध पद को प्राप्त होते हो। उस पद का वर्णन आगे के दूसरे प्रकरण में करने की अभिलाषा रख, पहले आप श्री जी के चरणों में त्रि-करण त्रि-योग की विशुद्धि से अत्यन्त नम्रता युक्त बारम्बार वंदना नमस्कार करता हूं। कृपया दास की यह वन्दना स्वीकार कीजिए।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के

बालब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक पूज्य श्री अमोलकऋषिजी

महाराज रचित परमात्ममार्गदर्शक नामक ग्रन्थ का

'अर्हत गुणानुवाद' नामक प्रथम प्रकरण—

समाप्त

प्रकरण-दूसरा

" सिद्धगुणानुवाद "
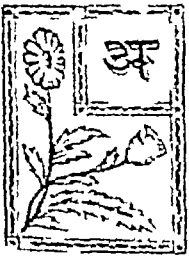
हो सिद्ध भगवंत ! आपका पद वही जीव प्राप्त कर सकता है कि जो पन्दरह कर्मभोमियों के क्षेत्र में, आर्य देश में, मनुष्य पणे उत्पन्न हुआ हो। इसके अतिरिक्त चरम (अंतिम) शरीर का धारक हो, वज्र ऋषभ नाराच संघयण, भव्य सिधिकता, पण्डितवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र, परम शुक्ल लेशा, केवल ज्ञान और केवल दर्शन-इतने गुणों की जोगवाई जिस जीवको होती है, वह जीव ही आपके परमोत्कृष्ट पद तक पहुंच सकता है।

अहो सिद्ध प्रभू ! आपका पद प्राप्त करने के प्रति प्रवृत्त हुए केवली भगवंत को यदि आयुष्य कर्म तो अल्प हो और वेदनीय कर्म अधिक हो तो दोनों को बराबर करने के लिए स्वाभाविक ही आठ समय में समुद्घात (आत्म प्रदेश का मथन होकर स्वभाव से अन्य भाव में प्रगमना) होती है। १ प्रथम समय में, नीचे निगोद (सातमी नर्क के नीचे) से लगाकर ऊपर लोक के अंत तक, आत्म प्रदेश दंड के समान लम्बे होजाते हैं। २ दूसरे समय में वे दंडाकार प्रदेश पूर्व और पश्चिम में कपाट

के समान विस्तृत हो जाते हैं। ३ तीसरे समय में उन कपाटवत् प्रदेशों का, दक्षिण तथा उत्तर में मथन हो जाता है, ४ चौथे समय में संपूर्ण लोक में जो कहीं किंचित् मात्र भी स्थान बाकी रहा हो, वह उन प्रदेशों द्वारा प्रति पूर्ण भर जाता है। उस समय केवली भगवंत विश्वव्यापी हो जाते हैं। * उक्त समय में जिन का बदला देना होता है वह सब उन प्रदेशों द्वारा चुका देते हैं और तुरंत निवृत्तीकरण होता है। ५ पांचवे समय में लोकपूर्णता से, ६ छट्ठे समय में मथनता से ७ सातवे समय में कपाट अवस्था से, निवृत्त होते हैं और ८ आठवे समय में दंडत्व का उपसंहार होकर अपने स्वाभाविक मूल रूपको प्राप्त होते हैं। × यह समुद्घात होते वक्त पहले और सातवे समय में औदारिक काय योग की, दूसरे और छट्ठे समय में औदारिक मिश्र काय योग की, (यह मिश्रता कार्माण योग के साथ होती है) और चौथे पांचवे समय में केवल एक कार्माण योग की ही प्रवृत्ति होती है। उक्त समय में अनाहारिक होते हैं। यह समुद्घात उन्हीं केवल ज्ञानियों को होती है; जिनका आयुष्य केवल ज्ञान उत्पन्न होने के समय मात्र छः महीने का ही शेष रहता है। इसके विपरीत अन्य केवलियों के नही।

अहो सिद्ध भगवंत ! आपके पदको प्राप्त होने के इच्छुक, उपरोक्त समुद्घात से निवृत्त होने के बाद अथवा जिनके समुद्घात न भी हुई हो- ऐसे केवली भगवंत, जब अयोगी अवस्था को प्राप्त होते हैं तब मन बचन और काया के योगों का निरोधन करते हैं—शुक्ल ध्यान के तीसरे पाये सूक्ष्म क्रिया निवृत्ति को ध्याते हैं—और उस समय उनके तीनों योग कंपायमान क्रिया से निवृत्त होकर स्थिरीभूत शैलेशी (पर्वत जैसी) अवस्था को धारण करते हैं। उक्त तीसरे पाये को ध्याते हुए ही अचिन्त्य आत्मवीर्य की शक्ति प्रगट होती है। तब बादर काया योग स्वभाव से स्थिर

---

* जो ईश्वर को विश्व व्यापी कहते है, वे संभवतः इसी कारण से कहते होंगे।

× यह समुद्घात इच्छापूर्वक नहीं की जाती है, क्योकि किसी भी काम के करने में असंख्यात समय लगते हैं, और यह तो मात्र आठ समय में ही होती है। इस लिये यह विना की हुई स्वभाव से ही होती है।

होकर सूक्ष्म होता है, फिर बादर वचन योग स्थिर होकर सूक्ष्म होता है, अंत में क्षण भर के बाद सूक्ष्म काया योग का—फिर सूक्ष्म वचन योग का—और फिर सूक्ष्म मन योग का अपचय होजाता है। उस समय निजात्मानुभव में अत्यंत लीन होकर चिद्रूप अवस्था को प्राप्त होते हैं। तव केवल पांच लघु अक्षर (अ-इ-उ-ऋ-लृ) के उच्चारण में जितना काल लगता है, उतनी ही स्थिति शेष रह जाती है। इस वक्त शुक्ल ध्यान का चौथा पाया 'समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति' नामक होता है और तव जो चरम–अंतिम शरीर है उस के संस्थान अवगाहना से तृतीयांश अवगाहना की न्यूनता करते हैं, अर्थात् जो आत्म प्रदेश और कर्म प्रदेश, पहले खीर नीर की तरह मिल रहे थे, सो भिन्न–पृथक् होने से मात्र आत्मा के ही प्रदेश रहते हैं तथा वे घनरूप होजाते हैं। कर्ण नासिका आदि में जो छिद्र थे सो उनके पूरे जाने से तृतीयांश भाग की अवगाहना कम हो जाती है। जैसे उत्कृष्ट पांच सौ धनुष्य की अवगाहना वाले केवली की, उस समय तीनसौ तेतीस धनुष्य और वत्तीस अंगुल की अवगाहना रहजाती है और दो हाथ की (वामन संस्थान आश्रित) जघन्य अवगाहना वाले की, उस समय एक हाथ आठ अंगुल की अवगाहना रह जाती है। इस समय वे विदेही एवं देहातीत अवस्था वाले कहे जाते हैं। फिर स्वभाव से ही उनके आण पाण (श्वासोश्वास) का निरोधन हो जाता है और जब शरीर से अलग होते हैं तब आत्मा ऊर्ध्व दिशा को स्वभावसे ही गमन करती है। जैसे (१) कुम्हार का चाक घुमाकर छोड देने पर भी फिरता रहता है तैसे ही कर्म के धक्कों से छुटी हुई आत्मा सिद्ध स्थान तक चली जाती है (२) जैसे मिट्टी के और शण के लेप से भारी हुआ तुम्बा नामक फल पाणी में डूब जाता है और वहां धीरे धीरे गल जाने से लेप का संग छूटते ही स्वभावतः सीधा ऊपर आता है, तैसे आत्मा का देही के असंग होने से ऊर्ध्व जाने का स्वभाव है (३) जैसे एरंड नामक वृक्ष के फल का बीज फलके बन्धन से मुक्त होते ही सहसा ऊँचा उछलता है, तैसे कर्म बन्धन से मुक्त होते ही आत्मा ऊँची जाती है (४) और जैसे अग्निशिखा का ऊर्ध्व गमन स्वभाव है, तैसे आत्मा का भी ऊर्ध्व गमन करने का

स्वभाव है। इन चार दृष्टांतों के अनुसार आत्मा लोक के अन्त तक जाता है। उस समय आत्मा जितने अपने प्रदेश हैं उतने ही आकाश प्रदेशों का अवलम्बन कर, विग्रह गति रहित हो, केवल एक समय मात्र में ही सात-राजू परिमित क्षेत्र का उलंघन करती है। आगे जीव को गतिस्वभाव की प्रेरक धर्मास्तिकाय नहीं है, अतः लोक के अन्त में ही आत्मा स्थिरीभूत हो जाती है और तब वह आत्मा सिद्ध पद को—आपके पद को—आपके रूपको प्राप्त होती है। इस तरह गये काल में अनंत सिद्ध हुए हैं, वर्तमान काल में महा विदेह क्षेत्रों से संख्याते सिद्ध होते हैं—यों आप सब सिद्ध वनस्पति के दंडक को छोड कर शेष तेईस दंडकों से अनंत गुणे अधिक हो और वनस्पति से (निगोद आश्रित) अनंतवे भाग हो। इस भांति भिन्न-भिन्न जीव सिद्ध हुए हैं, यों गिनें तो अनंत हो और स्वरूप आश्रित तो आप एक ही हो।

अहो सिद्ध परमात्मा! आप जहां विराजमान हो वहां नीचे पृथ्वीमय एक शिलापट्ट है। उसे सिद्ध शिला कहते हैं। वह पैंतालीस लाख योजन की लम्बी चोड़ी है, मध्य में आठ योजन की मोटी है, और वहाँसे क्रमशः कम होती हुई किनारे पर मक्खी की पांख से भी अधिक पतली है। तेल से भरा हुआ दीवा, पताशा, तासा नामक वाजिंत्र, और उलटे रक्खे हुए छत्र के आकार के समान आकार वाली है। अर्जुन (श्वेत) सुवर्ण की, घटारी मठारी, अत्यन्त सुहाली, सुगन्ध से घमघमायमान, देदिप्यमान प्रकाश करती हुई, अत्यन्त सुहामणी मनोहर है। परन्तु अहो सिद्ध भगवंत, आप का उस शिला से कुछ सम्बन्ध नहीं है। आप उस पर विराजते नहीं हो, आप को उसका किसी प्रकार का आधार नहीं है। केवल उसके ऊपर सिद्धस्थान होने से, या सीधी अढाई द्वीपके ऊपर होने से, या सीधी-सुलटी होने से सिद्ध सिला नाम से कही जाती है। सिद्ध शिला के ऊपर केवल एक योजन ही लोक है, सो उस योजन के पांच भाग तो नीचे छोडना और ऊपर के छठे भाग में ३३३ धनुष्य और ३२ अंगुल जितनी जगह रही—उतनी जगह में अनंतानंत सिद्ध भगवंत-जो गये काल में हो चुके हैं-वे विराजते हैं। और आगामी काल में जो

अनंतानंत सिद्ध होंगे उनका भी उतनी ही जगह में समावेश होजायगा; परन्तु वहां किंचित् मात्र भी जगह अवरुद्ध नहीं होती। जैसे एक कोटड़ी में एक दीपक के प्रकाश का भी समावेश होता है, और वहीं हजारों दीपकों के प्रकाश का भी समाबेस होजाता है, तो भी किंचित् मात्र जगह रुकती नहीं है—प्रकाश में प्रकाश समाता चला जाता है, ठीक तैसे ही अनन्तानंत सिद्धों के एकत्र रहने से भी किंचित् मात्र जगह नहीं रुकती; क्यों कि आपका स्वरूप ही '*ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति संत :*' के अनुसार संतमहात्माओं ने ज्ञान जैसा बताया है। अर्थात् जैसे किसी ने बहुत विद्या का अभ्यास किया और उस समस्त विद्या का समावेश उसकी आत्मा में हुआ; परन्तु उस विद्या को वह करामलकवत् (हाथ में आँवले नामक फल की माफ़िक) बता नहीं सकता है, तैसे ही आप सिद्ध परमात्माओं के स्वरूप को आत्मज्ञानी परोक्ष प्रमाण से और केवल ज्ञानी प्रत्यक्ष प्रमाण से जानते हैं, परन्तु अज्ञ जनों को बता नहीं सकते हैं। छद्मस्थों (आवरण युक्त ज्ञान वालों) की अपेक्षा से आप अरूपी हो—दृष्टि गोचर नहीं होते हो और केवली (निरावरण ज्ञान वाले) की अपेक्षा से आप रूपी भी हो क्यों कि जीवद्रव्यआत्मावंत हो। ऐसा आपके विचित्र स्वरूप का विचार करते हुये मनमें बड़ा ही आश्चर्य एवं आनंद उत्पन्न होता है! और उमंग हो आती है कि 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' अहो भगवंत! जैसे परोक्ष ज्ञान द्वारा आपने उक्त स्थान या सिद्ध स्वरूप के दर्शन दिये; तैसे प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा भी अधिक नहीं, केवल एक ही बार दर्शन देकर. मुझे कृतार्थ कीजिये।

यह तो द्रव्यात्मक विचार हुआ, अब गुणात्मक विचार करते हैं। अहो भगवंत! आप अनंतानंत गुणों और अतिशयों के धारक हो! यथा आपने अनादि संयोगी अष्ट कर्मोंका समूल नाश किया जिससे आपको अष्ट गुणों की प्राप्ति हुई। (१) ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय होने से केवल ज्ञानकी प्राप्ति हुई, जिससे सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवों की प्रवृत्ति को आप युगपत् (एकही समय में) जान रहे हो (२) दर्शनावरणीय कर्म के क्षय होने से केवल दर्शन की प्राप्ति हुई, जिससे सर्व द्रव्यादि

की प्रवृत्ति को युगपत् देख रहे हो (३) वेदनीय कर्म के क्षय होने से अव्याबाध हुए, जिससे अनंत निराबाध शिवसुखी हो (४) दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय होने से अनंत शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्वी हो, जिससे आत्म भाव में ही रमण करते हो और चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय होने से निष्कषायी हो, जिससे अनंत शांत स्वभावी हो (५) आयुष्य कर्म के क्षय होने से अजरामर हुए, जिससे संसार में पुनरागमन से रहित हो (६) नाम कर्म के क्षय होने से अमूर्त हुए, जिससे सर्व उपद्रवरहित शिव हो (७) गोत्र कर्म के क्षय होने से सर्व अप लक्षण (दोष) रहित हुये, जिससे सर्व मान्य हो (८) और अंतराय कर्म के क्षय होने से अनंत वीर्यवन्त हो, जिससे अनंत शक्ति के धारक हो।

और भी आपके ३१ गुण अतिशय हैं–कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत–इन पांचोंही वर्णों से रहित हो। सुरभिगन्ध, दुरभिगन्ध–इन दोनों गन्धों से रहित हो। कटु, तिक्त, मधुर, अम्ल, क्षार–इन पांचोंही रसों से रहित हो। गुरु, लघु, कर्कश, कोमल शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष-इन आठों ही स्पर्शों से रहित हो। वट्ट. तंस,चौरंस, परिमण्डल, आइतंस–इन पाचोंही संठाणों से रहित हो। स्त्री, पुरुष, नपुंसक–इन तीनों ही वेदों से रहित हो। जन्म, जरा, मरण–इन तीनों ही दुःखों से रहित हो। भगवान! ये आपके इकत्तीस अतिशय हैं।

और भी आप ३१ दोषों से रहित हो- १ क्रोध, २ मान, ३ माया, ४ लोभ, ५ राग, ६ द्वेष, ७ रति, ८ अरति, ९ हाँस, १० मोह, ११ मिथ्यात्व, १२ निद्रा, १३ काम, १४ अज्ञान, १५ मन, १६ वचन, १७ काया, १८ संसार, १९ इन्द्रिय, २० कंदर्प, २१ शब्द, २२ रूप, २३ गन्ध, २४ रस, २५ स्पर्श, २६ आहार, २७ निहार, २८ रोग, २९ शोक, ३० भय, ३१ जुगुप्सा–इन इकत्तीस दोषों में से एक भी दोष आप में किंचित् मात्र भी नहीं है।

और भी आप अनेक गुणगणों के सागर हो। जैसे-निराकार, निरालम्ब, निराशी, निरुपाधि, निरविकारी, अक्षय, अनादि, अनंत, अखण्ड, अक्षर, अनक्षर, अचल, अकल, अमल, अगम, अरूपी, अकर्मी,

अबन्धक, अनुदय, अनाद्रिक, अवेदी, अभेदी, अछेदी, अखेदी, असखायी अलेशी, अभोगी, अव्याबाध, अनंत अनवगाही, अगुरुलघु, अपरिणामी, अनिंद्रिय, अविकारी, अयोनी, अव्यापी, अनाश्रयी, अकम्प, अविरोधी, अखण्डित, अनाश्रव, अलख, अशोक, अलोकज्ञायक, स्वद्रव्यवंत, स्वक्षेत्रवंत, स्वकालवंत, स्वभाववंत, द्रव्यास्तिक से नित्य, पर्यायास्तिक से अनित्य, गुण पर्यायभाव से नित्यानित्य, सिद्धस्वरूपी, स्वसत्तावंत, पर सत्तारहित, पर क्षेत्र अनवगाही, धर्मास्ति—अधर्मास्ति—आकास्ति—पुद्गलास्ति- और काल के स्वभाव से भिन्न, स्वभाव के कर्ता, पर भाव के अकर्ता, शुभ, अमर, अपर, अपरापर, स्वभावरमण, सहजानन्दी, पूर्णान्दी, अजर, अविनाशी, एक, असंख्य, अनंत,—यों अनंतानंत गुणों द्वारा आप संयुक्त हो। मैं अल्पज्ञ महा प्रमादी, किस प्रकार समस्त वर्णन कर सकता हूं।

अहो सिद्ध भगवंत! आप अतुल्य सुखसागर में विराजमान हो। इस संसार में ऐसा किसी का भी सुख नहीं है, कि जिसकी आपको उपमा देवें। यहां सामान्य सुख शेठ लोकों के गिने जाते हैं। उनसे सेनापति के सुख अधिक हैं। उससे मन्त्रीश्वर के, उससे मंडलिक राजा के, उससे बलदेव के, उससे वासुदेव के, उससे चक्रवर्ती के, उससे जुगलियों के, उससे देवता के, उससे इन्द्रके, उससे अहमेंद्रके सुख अधिक हैं। उससे सामान्य साधु के, उनसे तपश्वीजी के, उनसे बहुसूत्री जी के, उनसे आचार्यजी के, उससे गणधर जी के और उनसे अर्हत भगवंत के सुख अधिक देखे जाते हैं। और तीर्थंकर भगवान से सिद्ध भगवंत के सुख अनंत गुणे अधिक हैं। यथा दृष्टांत—जैसे किसी जंगली मनुष्य को पकड़ कर राजा अपने स्थान में ले गया। वहां उसे अत्युत्तम भोजन कराया और पीछा उस के स्थान पर पहुँचा दिया। तब वह जंगली निज कुटम्ब के संमुख राजभोजन की प्रशंसा करने लगा, परन्तु उस भोजन के स्वाद की समता करने वाला कोई भी पदार्थ जंगल में बता सका नहीं। तैसे ही अहो सिद्ध प्रभू! आपके सुख की समता करने योग्य कोई भी पदार्थ इस सृष्टि में नहीं है। वस्तु का स्वाद तो उसको भोगने वाला

ही जानता है, परन्तु उस स्वाद का वर्णन शब्द द्वारा नहीं हो सकता।

अहो सिद्ध भगवंत ! आपके सुख तो अतीन्द्रिय हैं, अर्थात् इन्द्रिय-गोचर (इन्द्रियों से जानने में आवें) नहीं है। और अनोपम भी हैं अर्थात् किसी वस्तु की उपमा देने में आवे, ऐसे नहीं हैं। इस लिये आपके सुख अनुभवी सिवाय अन्य नहीं जान सकता है। ऐसे अनंत अक्षय सुख में आप सदा विराजमान हो।

अहो सिद्ध प्रभू ! कितने ही मतान्तरी आपके सुखों की भिन्न-भिन्न प्रकार से मन मानी कल्पना करते हैं। जैसे—बौद्ध लोग अत्यंत अभाव को प्राप्त होना ही मोक्ष बताते हैं; परन्तु वे यों नहीं विचारते हैं कि—जहां अत्यंत अभाव हुआ—आत्माही नहीं रही—तो फिर वहां मुक्ति के सुखों का अनुभव किसको होगा ? वैशेषिक मतावलम्बी, ज्ञान के अभाव से जड़ता प्राप्त होने को मुक्ति मानते हैं; परन्तु वे यों नहीं विचारते हैं कि ज्ञान का अभाव करके अपने को जड़ पाषाणवत् बनाने से कौन खुशी होगा ? कितनेक वेदान्ती और पुराणी लोग, मुक्ति में गये जीवों की भी पुनरावृत्ति (पीछे संसार में लौट आना) बताते हैं; उनकी यह बात बहुत अविचार की है क्यों कि-संसार शब्द का अर्थ होता है कि-"संसरणं संसारः।" यानी बारम्बार परिभ्रमण करना। और ऐसे संसार से छूटने को मुक्ति कहते हैं, यदि मुक्ति में गये पीछे भी जन्म लेना बाकी रहा तो फिर संसार से मुक्ति में विशेषता ही क्या है ? ईसाई और मुसलमान आदि कितनेक मुक्तिमें अप्सरा यानी परियों के भोग एवं अमृत भोजन वगैरह बताते हैं सो तो प्रत्यक्ष ही विषय—लम्पटता है। जैमनीय के मतावलम्बी मुक्ति का नाश ही बताते हैं, उनके अज्ञान का तो कहना ही क्या ? इस प्रकार अनेक मतान्तरी, अनेक तरह से मुक्ति का कथन करते हैं; परन्तु

---

* दृष्टान्त—किसी कृपण शेठ ने हलवाई से कहा, अरे हलवाई ! तेरी मिठाई की लोग बहुत प्रशंसा करते हैं, इस लिये कहके बता कि तेरी मिठाई कैसी अच्छी है ? हलवाई बोला, शेठ ! मिठाई का स्वाद कहकर नहीं बताया जाता है; वरन् दाम खरच कर चखने से ही जाना जाता है ? तैसे ही मोक्ष के सुख जिन्होंने करणी करके प्राप्त किये हैं वे ही जानते हैं।

जो कुछ मुक्ति का सत्य स्वरूप अर्हंत भगवंत ने कैवल्य ज्ञान रूपी दुर्बीन से प्रत्यक्ष देख कर फरमाया है, वही सत्य है। उनके बचनानुसार ही, अहो सिद्ध भगवंत! मैंने आपको पहचाना है और आपके सत्य स्वरूप में श्रद्धालु बनाहूँ। और चाहता हूँ कि इसी स्वरूप को मेरी आत्मा भी शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त हो!

अहो सिद्ध परमात्मा! अब आपके स्वरूप की विवेचना स्याद्वाद सप्तभंगी द्वारा करता हूं। (१) प्रथम भंग स्यादस्ति है। अनेकान्तता से अथवा सत् अपेक्षा से अस्ति होना, इसका संक्षिप्त अर्थ है। अस्तु, स्वद्रव्य से अपने गुण पर्यायों के समुदाय हैं, स्वक्षेत्र से अपने आत्मिक असंख्यात प्रदेश रूप क्षेत्र के अवगाहक हैं, काल से समस्त लोकालोक में प्रति समय होने वाली उत्पात और व्यय की वर्तना के ज्ञाता हैं, स्वभाव से अनंतज्ञान–अनंतदर्शन–अनंतचारित्र–और अनंत अगुरु लघु पर्यायों के धारक हैं। यह सिद्ध भगवंतों का अपना अचल अस्तित्व है। (२) द्वितीय भंग स्यान्नास्ति है। इसके द्वारा सिद्धों में परद्रव्य, पर क्षेत्र, परकाल और परभाव का नास्तित्व है। (३) तृतीय भंग स्यादस्ति स्यान्नास्ति है। जिस समय प्रथम भंग में कहे अनुसार सिद्ध प्रभू में स्वगुणों का अस्तित्व रहा हुआ है, उसही समय द्वितीय भंग में कहे अनुसार परगुणों का नास्तित्व भी रहा हुआ है। इस प्रकार एकही समय में सिद्धों में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों है। (४) चतुर्थ भंग स्याद-वक्तव्य है। सिद्ध भगवंत के अनंतानंत गुणोंका वर्णन वाचाद्वारा सर्वथा असंभव है, इसलिये सिद्ध महाराज अवक्तव्य भी हैं। अर्थात् स्यादस्ति स्यान्नास्ति दोनों भंग एकही समय में सिद्ध भगवंत में हैं, किन्तु वे एक साथ एक ही समय वचन द्वारा नहीं कहे जा सकते। 'स्यादस्ति' मात्र इतना कहते ही असंख्यात समय गुजर जाते हैं। अतः जब 'अस्ति' कहते हैं तब 'नास्ति' नहीं कह सकते और जब 'नास्ति' कहते हैं तब 'अस्ति' नहीं कह सकते। क्योंकि शब्द क्रमवर्ती है, एक समय में दो शब्दों का उच्चारण करने में कोई भी समर्थ नहीं है। यह हुई सिद्धों की अवक्तव्यता। (५) पंचम भंग स्यादस्ति अवक्तव्य है। प्रथम भंग में कहे अनुसार

सिद्धों में अस्तित्व भी है और साथ ही चतुर्थ भंग में कहे अनुसार अवक्तव्यत्व भी है (६) षष्ट भंग स्यान्नास्ति अवक्तव्य है। द्वितीय भंग के अनुसार नास्तित्व और चतुर्थ भंग के अनुसार अवक्तव्य—यों दोनों भंगों के समन्वय से सिद्धों में यह छट्ठा भंग है। (७) सप्तम भंग स्यादस्ति स्यान्नास्ति अवक्तव्य है। तृतीय भंग के अनुसार सिद्धों में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों एकही समय में सिद्ध हैं तथा साथ ही चतुर्थ भंग के अनुसार वचन द्वारा अवक्तव्यता भी है। इस रूप से सिद्ध भगवंत में सप्तम भंग भी है। अहो प्रभू! इस प्रकार सप्तभंगी से आपके स्वरूप का विचार करते हुए हृदय में अपूर्व आनंद एवं शान्तरस का अनुभव होता है। आपका स्वरूप अगम्य तथा अगोचर है, अज्ञानी जीव की वहां तक पहुंच नहीं हो सकती, उसके लिये तो बस आप जैसा बनजाय, तब कहीं काम बने।

अहो सिद्ध भगवंत! आप का अलौकिक स्वरूप छह कारकों से भी विचारता हूँः-(१) 'कर्ता-' जो ज्ञानादि गुण आत्मा में पहले गुप्त रूप से रहे हुए थे, आपने उनको सर्व प्रकार से पूर्णतया प्रकट किया। इस लिये ज्ञानादि गुणों के प्रकट कर्ता आप ही हो। (२) 'कारण'-ज्ञानादि गुणों को प्रकट करने में ज्ञानादि गुण ही कारण रूप हैं, (३) कार्य'-ज्ञान गुण के द्वारा अनंत ज्ञेय रूप (जानने योग्य) पदार्थों को जानने का कार्य करते हो। दर्शन गुण के द्वारा अनंत दृश्य पदार्थों को देखने का कार्य करते हो। चारित्र गुण के द्वारा अनंत आत्मिक गुणों में अभिरमण करते हो। और वीर्य गुणके द्वारा अनंत गुणों में सहायकता रूप कार्य करते हो (४) 'संप्रदान'-समय समय में अनंत पर्याय ज्ञान से जानना, दर्शन से देखना, चारित्र से अपने वास्तविक आत्म स्वरूप में रमणता, और वीर्य से समय समय में अभिनव पर्याय से सहायकता (५) 'अपादान'-ज्ञानादि पर्याय में पूर्व पर्याय का व्यय होना अर्थात् पदार्थों में जो पर्याय नवीन उत्पन्न हुई थी वह भी ज्ञान से जानी थी, और उस पर्याय का व्यय यानी नाश हुआ, वह भी ज्ञान से जाना (६) 'आधार'-ज्ञानादि गुण की सदा ध्रुवता-निश्चलता जानना। आपका स्वरूप इन छः कारकों से सहित है।

अहो सिद्ध परमात्मा! आप नाम रूप से एक हो; क्योंकि आप

सब एक सिद्ध नाम मे ही बुलाये जाते हो। क्षेत्र से असंख्य हो, क्योंकि असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र स्पर्श रहे हो। * गुण रूप से असंख्यात और अनंत हो, क्यों कि आत्म प्रदेश असंख्याते हैं और एकेक आत्म प्रदेश पर अनंत अनंत गुण प्रकट हुए हैं। पर्याय रूप से अनंत हो; क्यों कि एकेक गुण की अनन्तानन्त पर्यायों की वर्तना है एवं एकेक पर्याय पर अनन्तानन्त धर्म प्रगटे हैं। इस भांति पांच भंगों से आप के स्वरूप का चिन्तन होता है (२) आप अभोगी हो; क्योंकि शुभाशुभ इन्द्रियों के विकार से सर्वथा निर्वृत्त होगए हो। साथ ही उपभोगी भी हो; क्योंकि अनंत ज्ञानादि गुणों का वारंवार भोग करते हो (३) आप नित्य हो; क्योंकि आपके ज्ञान, दर्शन, चारित्र—ये तीन गुण और अव्याबाध, अमूर्तिक, अनव गाहक—ये तीन पर्याय नित्य हैं। और एक अगुरु लघु पर्याय, आपके सब गुणों में उत्पाद तथा व्यय रूप हानि वृद्धि को प्राप्त होती है, इस लिये आप अनित्य भी हो (४) आप योगी हो, क्यों कि आप के ज्ञानादि गुणों का संयोग है। और आप अयोगी भी हो, क्योंकि मन वचन काय के योग से रहित हो (५) आप अभव्य हो; × क्योंकि आपका ज्ञानादि गुण रूप जो निज स्वभाव है, उसका पलटा कदापि नहीं होता है। और भव्य भी हो; क्यों कि अगुरु लघु पर्याय के द्वारा आपके अनंत गुणों में हानि वृद्धि रूप कार्य, समय समय में उत्पाद व्यय रूप हो रहा है—पलट रहा है। और नो भव्य अभव्य भी हो; क्यों कि मोक्ष स्थान प्राप्त कर लिया है (६) आप स्थिर स्वभावी हो, क्यों कि

---

* क्षेत्र से असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र स्पर्श रहे हो, यह कथन व्यावहारिक वचनाश्रित है। निश्चय नय से तो सिद्ध प्रभू स्वक्षेत्री ही हैं, पर क्षेत्री नहीं हैं। क्यों कि जिस आकाश प्रदेश में सिद्ध की अवगाहना है, उसही क्षेत्र में अजीव पुद्गल खंध, तथा निगोद राशी शरीर वगैरह अनेक द्रव्य हैं। इस लिये सिद्ध की अवगाहना से क्षेत्र रुकता नहीं है। जैसे दीपको का प्रकाश चाहे कितना ही क्यो न एकत्र हो किन्तु अपने स्थान को रोकता नहीं है—भीड़ नहीं करता है।

+ अभव्य उसे कहते है, कि जिसके स्वभाव का कदाचित् भी परिवर्तन न हो।

सर्व कर्मों का क्षय करके अपने निजात्मरूप को प्रकट किया; जिससे लोकाग्र में जो सिद्ध स्थान है वहां सादि अनन्त रूप से विराज मान हुए हो। जिन आकाश प्रदेशों को अवगाहन करके विराजे हो, वहां से किसी भी समय चलित होकर अन्य आकाश प्रदेशों की स्पर्शना कदापि नहीं होगी—इस लिये स्थिर हो। और अस्थिर भी हो, क्योंकि प्रतिसमय अगुरु लघु पर्याय का पलटा होता रहता है। इन पर्यायों से हानि वृद्धि होती है (७) आप रमणीक हो, क्योंकि आपने शुक्ल ध्यान रूप अग्नि के द्वारा घातिये अघातिये सर्व कर्मों का आवरण जला कर नाश किया। जिससे अनंत ज्ञानादिमय जो आपका शुद्ध स्वरूप प्रगट हुआ है, उस में आप की रमणता सो रमणीकपणा है। और इन्द्रियों के सुख के हेतु जो पर स्वभाव रूप विभाव दशा है, उससे आप सदाही अरमणीक हो। इत्यादि अनेक प्रकार से आपके स्वरूप का चिंतन करते हुये आत्मा में अद्वितीय आनन्द उत्पन्न होता है।

अहो सिद्ध भगवन्त ! इस संसार में सिद्ध नाम धारण करने वाले अनेक हैं। जैसे—नय सिद्ध, स्थापना सिद्ध, द्रव्य सिद्ध, शरीर द्रव्य सिद्ध, भव्य शरीर द्रव्य सिद्ध, यात्रा सिद्ध, विद्या सिद्ध, मंत्र सिद्ध, तंत्र सिद्ध, यंत्र सिद्ध, अंजन सिद्ध, पादुका सिद्ध, गुटिका सिद्ध. खड्ग सिद्ध, माया सिद्ध, बुद्धि सिद्ध, शिल्प सिद्ध, तप सिद्ध, ज्ञान सिद्ध, आदि—आदि। परन्तु आपकी तुलना कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता। क्योंकि उपर्युक्त सर्व प्रकार के सिद्ध स-कर्मी हैं और आप सच्चे भावसिद्ध सर्व कर्मों के क्षय होने से ही हुए हो, इसलिये सब सिद्धों से उत्तम एवं वरिष्ठ आप ही हो। ऐसा मुझे प्रति भासित होने से सर्व प्रकार के सिद्धों से मेरा रुचिभाव हट कर बस अब एक आपही में लगा है।

अहो सिद्ध निरंजन ! ज्ञानावर्ण आदि कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियों का विनाश होने से आप अष्ट कर्म रहित हुए हो; जिससे—ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सम्यक्त्व, सूक्ष्म अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध—ये आठ गुण आपमें प्रगट होने से आप सर्व उत्तमोत्तम गुणों के स्थान हो। जैसे—(१) पूर्व काल में छद्मस्थ अवस्था में भावना गोचर किये हुए त्रिकाल

रहित तथा स्वानुभव रूप ज्ञान के फल स्वरूप, और एकही समय में लोक तथा अलोक के संपूर्ण पदार्थों में प्राप्त हुये विशेषों को जानने वाला, प्रथम केवल ज्ञान नाम का गुण है। (२) संपूर्ण विकल्पों से शून्य निज शुद्ध आत्मसत्ता का अवलोकन रूप जो पहिले दर्शन भावित किया था, उसी दर्शन के फल स्वरूप और एकही काल में लोकालोक के संपूर्ण पदार्थोंमें प्राप्त हुये सामान्य को ग्रहण करने वाला, केवल दर्शन नामक द्वितीय गुण है (३) अत्यंत घोर परिसह तथा उपसर्गादि आनेके समय जो पहिले आपने निरंजन परमात्मा के ध्यान में धैर्य का अबलम्बन किया था, उसही के फल स्वरूप अनन्त पदार्थों के ज्ञान में खेदाभाव रूप लक्षण का धारक तृतीय अनन्त वीर्य नामक गुण है। (४) केवल ज्ञान आदि गुणों का स्थान रूप जो निज शुद्ध आत्मा है वह ग्राह्य है—इस प्रकार की रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व, जो कि पहले तप श्चरण करने की अवस्था में उत्पादित किया था उसही के फल स्वरूप समस्त जीव अजीव आदि तत्वों के विषय में विपरिताभिनिवेश (जो पदार्थ जिस रूप में है उसके विपरीत आग्रह) से शून्य प्रणाम रूप परम क्षायिक सम्यक्त्व नामक चौथे गुण के धारक हो। (५) सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवल ज्ञान का विषय होने से आपके स्वरूप को सूक्ष्म कहा जाता है, सो सूक्ष्मत्व पंचम गुण है। ६ एक दीपक के प्रकाश में जैसे अनेक दीपकों के प्रकाश का समावेश होजाता है, उसही प्रकार जिस क्षेत्र में एक सिद्ध भगवंत रहे हैं उसी क्षेत्र में संकर तथा व्यतिकर दोष के परिहार पूर्वक जो अनन्त सिद्धों को अवकाश देने का सामर्थ्य है , वही छठा अवगाहन गुण है (७) यदि सिद्ध रूप सर्वथा गुरू (भारी) हो तो लोह पिण्ड के समान सिद्धों का अधः पतन नीचे गिरना होवे। और यदि सर्वथा लघु यानी हलका हो तो वायु से ताडित अर्क (आकड़े के) वृक्ष की रूई के समान उनका निरंतर भ्रमण ही होता रहे। परन्तु सिद्ध स्वरूप ऐसा नही है, इसलिये सातवां अगुरु लघु गुण कहा जाता है (८) स्वभाव से उत्पन्न और शुद्ध जो आत्म स्वरूप है उससे उत्पन्न तथा रागादि विभावों से रहित ऐसे सुख रूपी अमृत का जो एक देश अनुभव पहिले किया उसी के फल स्वरूप अव्याबाध—अनन्त सुख—नामक अष्टम गुण के धारक आप हो।

ये जो सम्यक्त्व आदि आठ गुण कहे हैं सो मध्यम रुचि के धारकों के लिये हैं। विस्तार रुचि के धारक भव्यों के प्रति तो विशेष भेद-नय का अवलम्बन करने से—गति रहितता, इन्द्रिय रहितता, शरीर रहितता, योग रहितता, वेद रहितता, कषाय रहितता, नाम रहितता, गोत्र रहितता और आयुष्य रहितता आदि—विशेष गुण और इसी प्रकार—अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि सामान्य गुण—ऐसे अनन्तानंत गुणों का कथन जैनागमों में किया है। उन जैनागमों का स्वरूप दर्शाने के पहिले ऊपर लिखे आदि अनन्तानन्त गुण गणों के धारक श्री सिद्ध परमात्मा को मैं त्रि-करण त्रि-योग की विशुद्धि से बारम्बार नमस्कार करता हूँ। अहो परमात्मा प्रभू! दास की अभिवन्दना स्वीकार कीजिये।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का सिद्ध
गुणानुवाद नामक द्वितीय प्रकरण
समाप्त
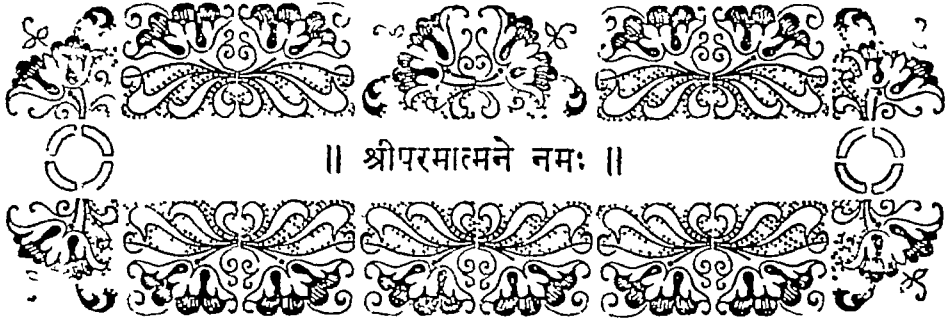
प्रकरण—तीसरा

"प्रवचनगुणानुवाद"
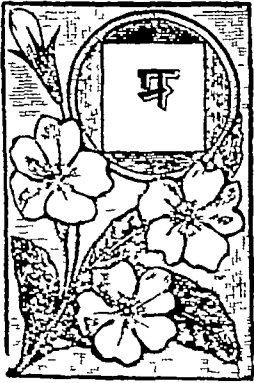
वचन का शब्दार्थ होता है—प्रकर्ष प्राप्त बचन। अर्थात् जो बचन सर्व श्रेष्ठ हो तथा सब जीवों का हितकारी हो उसे प्रवचन कहते हैं। ऐसे अतिशयआदि गुण-युक्त बचन—वाणी—का प्रकाश श्री अर्हत भगवंतने किया है, इस लिये अर्हत के वचनों को ही प्रबचन यानी शास्त्र कहा जाता है। शास्त्र जगत् में दो प्रकार के हैं—लोकोत्तर और लौकिक। धर्म सम्बन्धी ग्रंथों को लोकोत्तर शास्त्र कहते हैं और संसार व्यवहार सम्बन्धी ग्रंथों को लौकिक शास्त्र। इन दोनों शास्त्रों की मूल उत्पत्ति का वर्णन यहां संक्षेप में दर्शाया जाता है:—

इस सृष्टि में वीस क्रोड़ा क्रोड़ी सागर के बारह आरोंवाला काल-चक्र, सदा अनादि काल से स्वभावतः फिर रहा है, जिस में दश क्रोड़ा क्रोड़ी सागर को अवसर्पणी काल कहते हैं। इस अव सर्पणी काल में पहला आरा चार क्रोड़ा क्रोड़ी सागर का, तीसरा आरा दो क्रोड़ा क्रोड़ी सागर का, चौथा आरा ४२ हजार वर्ष कम एक क्रोड़ा क्रोड़ी सागर का, और पांचवा छट्टा आरा इकीस—इकीस हजार वर्ष का है। इन आरों में आयुष्य,

अवगाहना और पुण्याई दिनोंदिन घटती जाती है, अतः इसे अवसर्पणी काल कहते हैं। ऐसा ही दश कोड़ाकोड़ी सागर का उत्सर्पणी काल होता है, जो इस से उलटी तरह का होता है अर्थात् इस काल में आयुष्य आदि की दिनों दिन बृद्धि होती जाती है। अवसर्पणी काल के पहिले के तीन आरों में (कुछ कम में) जुगलिये मनुष्य होते हैं, वे धर्म अधर्म, पुण्य पाप आदि बिलकुल नहीं समझते हैं। उस समय पुस्तक तथा उपदेशक कोई नहीं होता है। जब तीसरे आरे के चौरासी लाख पूर्व* और ऊपर तीन वर्ष साढ़े आठ महीने शेष रहजाते हैं, तब तीर्थंकर भगवान् का जन्म हुआ करता है। वे विद्या ज्ञान और शास्त्र आदि की प्रवृत्ति करते हैं। जुगलियों का काल समाप्त हो जाता है और धर्म, कर्म, विद्या, शास्त्र आदि की कर्मभौमिक प्रवृत्ति चल पड़ती है। यह रीति अनादि काल से चली आरही है और इसी प्रकार अनंत काल तक भविष्य में भी चलती रहेगी। ×

इस वर्तमान अवसर्पणी काल के तीसरे आरे की समाप्ति में प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ देव भगवान् हुये। वे अवधि ज्ञान सहित थे, इसलिये कृत कर्म की भविष्यता का सर्व कारण जानते थे। जिस समय कल्पवृक्ष मनुष्यों की इच्छा पूर्ण करने से बन्द होगये तब वे जुगलिये आपस में लड़ने लगे। उनका समाधान करने के लिये शक्रेन्द्रजी के कहने से ऋषभदेवजी ने राज धारण किया और पांच मूल शिल्पकारों की स्थापना की। कुम्भकार, लोहकार, चित्रकार, वस्त्रकार, नाविक—इन पांचों के प्रत्येक के २०-२० प्रकार होने से सर्व १०० प्रकार के शिल्पकार स्थापित किये। भरतजी प्रमुख १०० पुत्रों को पुरुष की ७२ कलायें पढ़ाईं। ब्राह्मी सुंदरी दोनों पुत्रियों को स्त्री की ६४ कलाएँ पढ़ाईं। और ब्राह्मी जी को १८ प्रकार की लिपी पढ़ाई तथा सुन्दरी जी को १९४ अंक तक का गणित-शास्त्र पढ़ाया। यहां से व्यावहारिक विद्या के शास्त्र प्रचलित हुए।

---

* ७० लक्ष ५६ हजार को एक क्रोड़ से गुणाकार करने से ७०५६०००००००००० इतने वर्ष का एक पूर्व होता है।

+ उत्सर्पणी के तीसरे आरे के ३ वर्ष ८॥ महीने व्यतीत होते हैं तब प्रथम तीर्थंकर होते हैं। वे अवसर्पणी के २४ वें तीर्थंकर जैसे ही होते हैं।

श्री ऋषभ देवजी तिरासी लाख पूर्व संसार में रहे, फिर भरतजी के पांचसौ पुत्र आदि चार हज़ार पुरुषों के साथ मुनि दीक्षा धारण की। एक हज़ार वर्ष दुष्कर तप कर, घन घातिक कर्मों का नाश कर, केवल ज्ञान केवल दर्शन प्राप्त किया और सर्वज्ञ सर्वदर्शी बने। *इसके फलस्वरूप सर्व द्रव्य–जगत् के सूक्ष्म—बादर—त्रस—स्थावर—चर—अचर आदि द्रव्य पदार्थों को, सर्व क्षेत्र–लोक अलोक या उर्ध्व अधो तिर्यक दिशा को, सर्व काल–भूत भविष्यत वर्तमान को, और सर्व भाव–जीवों की प्रणति प्रणाम–तथा अजीवों के वर्णादि पर्याय के उत्पाद–व्यय–ध्रुवभाव को, जानने देखने लगे। किंचित् मात्र भी गुप्त न रहा।

---

* कितने ही मतावलम्बी गधे के श्रृंग की तरह सर्वज्ञ की सर्वथा नास्ति बताते हैं। उनसे पूछा जाता है, कि तुम सर्वज्ञ की नास्ति इस देश और इस काल आश्रित बताते हो या सर्व देश और सर्व काल आश्रित बताते हो? अगर इस देश और इस काल आश्रित बताते हो तो यह बात हम भी स्वीकार करते हैं कि इस भरत क्षेत्र मे और इस वर्तमान पचम काल में कोई सर्वज्ञ नहीं होता है। अगर सर्व देश और सर्व काल आश्रित नास्ति बताते हो तो हम पूछते है कि तुमने यह कैसे जाना कि सर्व देश सर्व काल मे अब कोई सर्वज्ञ नहीं है, और न अतीत मे ही कोई हुए हैं? यदि तुम कहो कि हमने स्वतः जान लिया है, तो हम तुमको ही सर्वज्ञ कहेगे, क्योंकि उर्ध्व–अधो–तिर्यक और भूत–भविष्यत्–वर्तमान के जानने वाले को ही हम सर्वज्ञ कहते हैं। हमारी यही सर्वज्ञ की परिभाषा है।

अगर तुम तीन लोक और तीन काल को नहीं जानते हो, तो फिर सर्वज्ञ है ही नहीं–ऐसा हठ किस आधार पर करते हो? क्योंकि जानने और देखने वाला यदि 'नहीं' कहे तो बात स्वीकार की जासकती है। परन्तु अनजान की बातको कौन स्वीकार करेगा? अर्थात् कोई नहीं। अस्तु तीन लोक और तीन काल का जानने वाला तो स्वयं ही सर्वज्ञ है, अतः वह कदापि सर्वज्ञ की नास्ति नहीं करेगा और अनजान की बात को कोई भी बुद्धिमान नहीं मानेगा, क्योकि वह अज्ञानी है और अल्पज्ञ है। अतः सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करना, सर्वथा उपहासास्पद है। और जो सर्वज्ञ की नास्ति के लिये गधे के श्रृंग का दृष्टांत देते हो वह भी अयोग्य है क्योंकि गर्दभ के श्रृंग नहीं होता है परन्तु गो वृषभादि के तो होता है–श्रृंग का तो अभाव नहीं है। इसी प्रकार नास्तिको को—

गत तीसरे भव में जो तीर्थंकर नाम कर्म की उपार्जना की थी; उसकी निर्जरार्थ अर्थात् उन शुभ कर्मोंका क्षय करने के लिये, केवल ज्ञान रूप उत्कृष्ट ज्ञान के प्रभाव से जो सर्व पदार्थ जाने देखे थे, उसमें से फक्त सारांश तत्व रूप वाणी के ३५ गुणों से संयुक्त प्रवचन का प्रकाश हुआ। उक्त पैंतीस गुणों का यहां संक्षेप में वर्णन किया जाता है:—

(१) संस्कारयुक्त वाणी का प्रकाशन। जिनवाणी शब्दागम के नियमों से विरुद्ध नहीं होती, किन्तु शब्दागम के नियमों से युक्त होती है। (२) भगवान ऐसे गंभीर स्वर से वाणी का प्रकाश करते हैं, कि एक योजन तक के विस्तृत प्रदेश में बैठी हुई परिषदा भी पूर्णरूप से ठीक-ठीक श्रवण कर सकती है (३) बहुत मान पूर्वक वचन उचारते हैं तो भी

—सर्वज्ञता न हो तो मत हो, परन्तु अन्य अनेक प्राणी तो भूत काल मे हुये हैं। और जिन्होने दृष्टि गत न आवे ऐसे दूर देशीय मेरु पर्वत एवं स्वर्ग नरकादिक का वर्णन तथा सूक्ष्म प्रमाणुओ का वर्णन किया है, और जिनके वचनो से ही हम उन अदृश्य बातों को अनुमान प्रमाण एवं आगम प्रमाणादि द्वारा सिद्ध कर सकते है, वे अवश्य सर्वज्ञ हैं। जो वस्तु किसी के भी प्रत्यक्ष होगी वही अनुमान प्रमाण से सिद्ध हो सकती है, अन्य नहीं। क्योकि राम रावणादि की अभी जो कथा प्रचलित है, सो राम रावणादि हुए है, तभी तो उनकी कथा का कथन हुआ है। इसी प्रकार सूक्ष्म परमाणु तथा स्वर्ग नरकादि हैं, तभी तो उनकी कथनी शास्त्र मे चलती है, और अनुमान से सिद्ध होती हैं। ऐसी ऐसी गुप्त अदृश्य अलौकिक त्रिकालवर्ती एव त्रिलोकवर्ती जो पदार्थ अन्यके जानने मे नहीं आते है, वे जिनके जानने मे आये हैं वेही सर्वज्ञ सर्वदर्शी है, उनकी नास्ति कदापि नहीं होती है। जैसे तुम दूसरो के मन के भाव एवं सूक्ष्म परमाणु नहीं जानते हो तो उनकी नास्ति नहीं है, ऐसे ही तुम्हारे नहीं जानने से तथा नहीं मानने से सर्वज्ञ की नास्ति नहीं है। गये काल में अनंत सर्वज्ञ हुये हैं कि जो दूर देशी अदर्शी पदार्थो का ऐसा कथन कर गये हैं, कि वैसा अन्य नहीं कर सके। वर्तमान मे महा विदेह क्षेत्र मे सर्वज्ञ हैं, और आगामी काल में अनंत सर्वज्ञ होकर धर्ममार्ग को प्रदीप्त रक्खेंगे।

सादी भाषा के माफिक प्रगमते हैं, (४) प्रभू की वाणी के उच्चारण की गंभीरता, महा मेघकी गर्जना से भी अधिक है (५) जैसे गुफा में अथवा शिखर बन्ध मंदिर में शब्दों के उच्चारण करने से प्रतिध्वनि उठती है, तैसे प्रभू के वचन की भी प्रतिध्वनि उठती है। (६) प्रभू की वाणी छः राग और तीस रागनी से भरी हुई स्वाभाविक ही होती है। जिसे सुनते हुए श्रोतागण तल्लीन हो जाते हैं; जैसे वीणा से मृग तथा पूंगी से सर्प तल्लीन होता है (७) सरस, स्निग्ध तथा दूसरे के हृदय में पैठती चली जाय—ऐसी वाणी वागरते हैं। ये सात गुण उच्चारण आश्रित कहे, अब अर्थ आश्रित कहते है। (८) थोड़े से शब्दों में अर्थ बहुत भरा हुआ होता है, इसलिये प्रभू के वचनों को सूत्र कहा जाता है। (९) एक बार " अहिंसा परमो धर्मः " कह कर फिर कहीं दूसरी बार "धर्म के निमित्त हिंसा करने मे दोप नहीं " ऐसा विरोधी वचन कदापि नहीं प्रकाशते हैं। पहला और अंतिम वचन सदा मिलता हुआ रहता है (१०) वचन की गड़ बड़ बिलकुल नहीं होती है। अर्थात् चलते हुए वर्णन को पूरा करके ही दूसरा वर्णन शुरू करते हैं, जिससे श्रोतागणों को अलग अलग अर्थ की समझ होजाती है, (११) ऐसे खुलासे के साथ फरमाते हैं, कि सुनने वाले को बिलकुल ही संशय उत्पन्न नहीं होता। और एक बात को दूसरी बार कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। (१२) सब दोषों से रहित एवं व्याकरण के नियमों के साथ अत्यन्त शुद्ध वचन प्रकाशते हैं कि उन बचनों में स्वमति तथा अन्यमति बड़े बड़े विद्वान भी किंचित् मात्र दोष नहीं निकाल सकते (१३) ऐसे मनोज्ञ वचन का उच्चारण होता है कि जिसको सुनते ही श्रोतागणों का मन एकाग्र हो जाता है, दूसरी तरफ जाता ही नहीं। (१४) ऐसी विचक्षणता के साथ वाणी का उच्चारण होता है कि जो देश के और काल के बिलकुल भी विरुद्ध नहीं जाती। अर्थात् सब देश में और सब काल में प्रभू के वचन शोभनीक ही होते हैं (१५) अर्थ का विस्तार तो करते हैं; परन्तु पिष्ट पेषण (कहे हुए को दूसरी बार कहना) एवं अडंग वढ़ंग कहकर वक्त पूरा नहीं करते हैं, (१६) जो वचन सद्बोध देने वाले साररूप होते हैं

उन्हीं का कथन करते हैं। उपदेश आदि में नवतत्त्व पदार्थ का ही वर्णन करते हैं। असार निरर्थक तथा आरंभादि की वृद्धि के बोधक वचनों को छोड़ देते हैं (१७) कभी प्रसंगवश यदि सांसारिक क्रिया एवं चार विकथा आदि आरंभ रूप कार्य के प्रकाशन का मौका आजाता है तो उसका विस्तार नहीं करते, संक्षेप में ही पूरा कर देते हैं। (१८) ऐसे खुलासे के साथ फरमाते हैं कि छोटा सा बालक भी मतलब को समझ जावे (१९) व्याख्यान में अपनी स्तुति और परकी निंदा हो—ऐसा वचन नहीं प्रकाशते हैं। पाप की निंदा करते हैं, परन्तु पापी की नहीं। (२०) भगवंत की वाणी दूध मिश्री एवं अमृत से भी अधिक मिष्ट लगती है। श्रोताओं की श्रवण-अभिलाषा बनी ही रहती है, व्याख्यान छोड कर जाने का विचार ही नहीं होता (२१) किसी की गुप्त (छिपी) बात को केवल ज्ञान से जानते हुए भी कदापि प्रकाशित नहीं करते हैं। (२२) सुरेन्द्र नरेंद्रादि बड़े प्रतापी लोग प्रभू के दर्शनों को आते हैं, परन्तु प्रभू किसी की भी खुशामद नहीं करते हैं। जिसकी जैसी योग्यता देखते हैं, उसको उतने ही भावों का प्रकाश करते हैं (२३) भगवंत की देशना सार्थक होती है। अर्थात् परोपकार और आत्मार्थ की सिद्धि करने वाली होती है, परन्तु निरर्थक कदापि नहीं जाती। (२४) अर्थ की तुच्छता तथा छिन्न—भिन्नता कदापि नहीं होती है, (२५) नियमित (प्रमाणिक) स्वर-व्यंजन—सन्धि—विभक्ति—काल—क्रिया—आदि संयुक्त शुद्ध वाक्यों का उच्चारण होता है (२६) बहुत जोर से भी नहीं, बहुत धीरे से भी नहीं, बहुत जल्दी से भी नहीं, बहुत आहिस्ते भी नहीं-इस तरह मध्यम भाव से वचन का प्रकाश करते हैं। (२७) श्रोतागण भगवंत की वाणी को सुन कर बड़ा चमत्कार पाते हैं कि-अहा वचन प्रकाशने की क्या अद्वितीय चातुरी है! (२८) भगवंत के वाक्य पूर्ण हर्षित हृदय से भरे हुए निकलते हैं, जिससे सुनने वाले को हूबहू रस प्रगमता है (२९) अनंत बली प्रभू को बीचमें विश्राम लेने का कुछ कारण ही नहीं है। कितने भी लम्बे काल तक व्याख्यान चलता रहे तो भी थकते नहीं हैं। (३०) अनेक संख्यक श्रोतागण अनेक तरह के प्रश्न मन में धारकर आते

हैं, परन्तु उनको पूछने की कुछ जरूरत नहीं पड़ती है—व्याख्यान सुनते सुनते ही सबको उत्तर मिलजाता है, (३१) परस्पर सम्बद्ध—यानी एक से दूसरा मिलता हुआ बचन प्रकाशित करते हैं, जो श्रोताओं के हृदय में बराबर बैठते जाते हैं, (३२) अर्थ—पद—वर्ण—वाक्य सब अलग अलग स्फुटरूप से फरमाते है (३३) सात्विक वचन प्रकाशते हैं—अर्थात् बड़े बड़े नरेन्द्र सुरेन्द्र बृहस्पति यम दैत्य आदि कोई भी भगवंत के हृदय में क्षोभ नहीं उपजासकते हैं, (३४) एक बात को पूरे तौर से दृढ़ करके फिर दूसरी बात फरमाते हैं। अर्थात् जो अधिकार फरमाते हैं, उसकी सिद्धि जब तक नहीं होजाती तब तक दूसरा अधिकार नहीं छेड़ते हैं (३५) भगवंत को व्याख्यान फरमाते हुए कितना ही समय क्यों न व्यतीत हो जावे, तो भी श्रोताओं का उत्साह बराबर बढ़ता ही रहता है—अधिक से अधिक रस प्राप्त होता ही जाता है।

इस प्रकार उत्तमोत्तम पैंतीस गुणों से युक्त वाणी का प्रकाश होता है। जैसे बाग़ में वृक्षों से अनेक प्रकार के पुष्पों की वृष्टि होती है और बाग का माली उन फूलों को टोकरी में ग्रहण कर हार—गजरे—तुर्रे आदि अनेक प्रकार के पुष्प—भूषण बनाता है, जिनमें यथा योग्य स्थानों पर सुशोभित अनेक रंगों के पुष्प पत्र जमाता है, तैसे ही श्री ऋषभदेवजी तीर्थंकर भगवंत रूप वृक्ष से वाणी रूप फूलों की वृष्टि हुई, उसके श्री उसभषेण जी आदि चोरासी गण धरों ने द्वादश विभाग किये और जिस जिस स्थान में जो जो समास योग्य देखा वैसा वैसा समास उसमें संग्रह कर शास्त्र बनाये। वे द्वादशांग इस प्रकार हैं:—

(१) अपने घर का सुधारा करने के अर्थ मुनियों को निज कर्तव्य बताकर उसमें चलाने के लिये या अपने अपने घर की शुद्धता का स्वरूप अन्य भव्यों को बताकर आचार रूप अत्युत्तम रंग उनकी आत्मा पर चढ़ाने के लिये या शुद्धाचार द्वारा संसार को शुद्ध बनाने के लिये 'श्री आचारांगजी' शास्त्र का प्रति पादन किया। जिसके १८००० पदों में * आत्म ज्ञान से लगा कर साधुत्व के ऊँचे पद तक की समस्त रीति भांति का

* ३२अक्षर का श्लोक, ऐसे ५१०८९६८४० इतने श्लोकों का एक पद होता है।

यथार्थ स्वरूप बताया गया है।

(२) जिनके आचार का सुधारा हो उनके विचार का सुधारा होवे, यह बात स्वाभाविक ही है। और शुद्ध विचारों वाला तत्वातत्व तथा धर्माधर्म का निर्णय चाहवे, यह भी स्वाभाविक ही है। इसलिये उन शुद्धात्माओं के हृदय में शुद्ध-तत्व का प्रकाश करने के लिये दूसरे "श्री सुयगडांगजी सूत्र" का प्रति पादन किया। जिसके ३६००० पदों में जगत् में प्रचलित होने वाले चारवाकादि अनेक मत मतान्तरों के आचार विचारों का स्वरूप बता कर-सत्यासत्य का निर्णय कर-सत्य पक्ष मे समाधान किया है।

(३) जिनका हृदय तत्वातत्व के विचार से निर्णयात्मक बना है वे स्वाभाविक ही संकल्प से मुक्त होकर आत्मा को अपने स्वरूप में स्थापन करते हैं। इसलिये तीसरे "ठाणांगजी" सूत्र का प्रति पादन किया। जिसके ४२००० पदों में एकेक बोल से लगाकर दश दश बोलों में बड़े सुन्दर ढंग से तत्व ज्ञान से भरी हुई द्विभंगी-त्रिभंगी-चौभंगी षडभंगी-सप्तभंगी-अष्टभंगी-वगैरह गहन ज्ञान की बाबतो में आत्मार्थी को कलोल कराने वाले समाम का समावेश किया गया है।

(४) जिनकी आत्मा तत्व ज्ञान में स्थिरीभूत होकर रमण करती है, उनकी आत्मा में अनेक ज्ञानादि गुणों का समावेश होवे या वृद्धि होवे, यह स्वाभाविक ही है। इसलिये चौथे "समवायांगजी" सूत्र का प्रति पादन किया। जिसके ६४००० पदों में इस संपूर्ण विश्व में रही हुई एक वस्तु से लगाकर सख्याती असंख्याती और अनंती वस्तुओं के नाम गुण रूप का कथन है। तथा ५४ उत्तम पुरुषों की जरूरी हालतों का वर्णन और अन्य भी ज्योतिष आदि का बहुत वर्णन किया गया है।

(५) जिनकी आत्मा में ज्ञानादि गुणों का समावेश हुआ हो उन्हें उन गुणों में रमण करते हुए अनेक प्रकार के तर्क वितर्क उत्पन्न होवें, यह स्वाभाविक है। इसलिये पंचम "विवाह पनत्ती जी सूत्र" की स्थापना की। जिसके २८८००० पदों में सूक्ष्म बादर पदार्थों का एवं चरण करणानुयोग—धर्मकथानुयोग-गणितानुयोग, इन चार अनुयोगमय

पदार्थों का बहुत छटा के साथ प्रतिपादन किया। इस शास्त्र का दूसरा नाम "भगवती जी" सूत्र भी है। साक्षात् भगवंत की वाणी भगवती ही है।

(६) जिनको विविध ज्ञानका बोध हुआ उनकी परोपकार वृत्ति स्वाभाविक ही होती है, और वे प्राप्त किये ज्ञान का दान दूसरे जीवों को देने के प्रति प्रवृत्त होते हैं, इसलिये छठे "ज्ञाता धर्म कथांग जी" सूत्र का प्रतिपादन किया। जिसके ५०१५००० पदों में त्याग, वैराग्य, नीति, आत्मज्ञान वग़ैरह उत्पन्न करने वाली ३५०००००००० धर्म-कथाओं का समावेश किया। जिन कथाओं के श्रवण-पठन-मनन से आत्मोन्नति, उच्चगति आदि अनेक गुणों की प्राप्ति होती है।

(७) जो आत्मज्ञानी, त्यागी, वैरागी परोपकार वृत्ति से धर्मोपदेश कर सद्धर्मका प्रसार करेंगे और श्रोतागण उस सद्बोध को एकान्त-आत्महितार्थ-महा उपकार की वृत्ति से स्वीकारेंगे, वे श्रोता ज्ञानदाताओं के उपासक-भक्त-स्वाभाविक ही बनेंगे-इस लिये सप्तम "उपासक दशांगजी" सूत्र का प्रति पादन किया। जिसके १९७०००० पदों में श्रमणोपासक अर्थात् धर्मोपदेशदाता श्रमण यानी साधुओं के उपासक यानी भक्त श्रावकों का आचार विचार, धर्म में प्रवृत्ति करने की विधि, उपसर्गादि से अडिग रहकर आत्मार्थ सिद्ध करने का उपाय, प्रति पादन किया गया है।

(८) जो धर्म के लिये अपना तन-मन समर्पण करके शुद्ध वृत्ति तह चित्तसे उद्यमी बनेंगे और जिनाज्ञा मुजब करणी करेंगे तो उसके फल स्वरूप उनके संसार का अंत सहज स्वाभाविक ही होजाता है— इस हेतु से अष्टम "अंतगडदशांगजी" सूत्र का प्रतिपादन किया। जिसके २३२८००० पदों में संसार मार्ग का अंत कर लोकान्तिक एवं भवान्तिक मोक्षरूप गढ़ की प्राप्ति करने के हेतुभूत गुणरत्न संवत्सर आदि दुष्कर तप करने की तथा महान् उपसर्ग सहकर इष्टितार्थ—आत्मार्थ सिद्ध करने की रीतियां दृष्टांत युक्त कथन की हैं।

(९) मोक्ष प्राप्ति की करणी करते समय कितनेक तो संपूर्ण

कर्मों का नाश कर डालते हैं, और कितने ही आयुष्य की कमी होने से तथा शुभ परिणामों द्वारा पुण्य की वृद्धि होने से संपूर्ण कर्मका नाश नहीं कर पाते हैं तो उन्हें उस उत्कृष्ट करणी के फल स्वरूप सांसारिक सुखोंमें सर्वोत्कृष्ट सुखका स्थान प्राप्त होता है— यह अधिकार दर्शाने के लिये नवसे " अनुत्तरोववाईजी " सूत्रका प्रति पादन किया। जिसके ९२०४-००० पदों में ८४९७०२३ स्वर्ग के विमाणों में जो सर्वोत्कृष्ट पांच अनुत्तर विमान है— उनमें उत्कृष्ट संयम तप के पालने वाले ही पुण्य वृद्धि के कारण से उत्पन्न होते हैं। वहां ३३ सागरोपम का उत्कृष्ट आयुष्य है। ३३ हजार वर्षमें भूख लगती है, उसवक्त ही अत्युत्तम पुद्गलों का आहार रोम-रोम से खेंच लेते हैं। ३३ पक्ष में श्वास लेते हैं। देवता जहां बैठते हैं वहां ऊपर चंदोवे में २५६ मोती का झूमका है। इत्यादि द्रव्य सुखों में तथा निरंतर चौदह पूर्वके पठन मनन में मशगूल हो आयुष्य पूर्ण कर मनुष्य ही होते हैं और एक तथा दो भवके अंतर से कर्म क्षय कर मोक्ष प्राप्त करते हैं। इत्यादि कथन किया गया है।

(१०) मोक्ष तक न पहुँच कर जो जीव अनुत्तर विमानों तक ही रह जाते हैं, इसका मुख्य हेतु शुभाश्रवही है। जब तक जीव को थोड़ासा भी आश्रव शेष रहता है, तब तक मोक्ष कदापि नहीं मिलती है। इन आश्रवों को रोकने का मुख्य उपाय संवर है। संपूर्ण संवर प्राप्त होते ही पंच लघु अक्षर उच्चारण के काल में ही मोक्ष प्राप्त करलेते हैं। इत्यादि भाव दरशाने के लिये दशमांग " प्रश्नव्याकरणजी " सूत्र का प्रति पादन किया। जिसके ९३११६००० पदों में हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह— इन पांच आश्रवों की और दया, सत्य, अदत्त, ब्रह्मचर्य, अममत्व—इन पांच सम्वरों की उत्पत्ति एवं फल का तत्व ज्ञान से भरा हुआ विवेचन किया।

(११) आश्रव (पाप) और संवर (धर्म) इन दोनों का क्या फल होता है ? इसका स्वरूप दर्शाने के लिये एकादशमांग "विपाकजी" सूत्र का प्रति पादन किया। जिसके १८०००००० पदों में गुरु कर्मी पापात्मा जीव किस तरह पापों का उपार्जन करते हैं और उनका फल

नरक तिर्यंचादि गति में कैसी विडम्बना के साथ भोगते हैं, और धर्मात्मा जीव धर्म एवं पुण्य किस तरह करते हैं, और उसका फल इस भव पर भव में कैसा सुख दाता होता है—यह स्वरूप द्रष्टांतों कर के समझाया है।

(१२) और जब यहां तक ज्ञानकी प्राप्ति होगई तो फिर पूर्ण श्रुतज्ञानी बनने वालों के लिये पूर्ण श्रुतज्ञान का स्वरूप बताने वाला बारहवां "दृष्टिवादांग" सूत्रका प्रति पादन किया। जिसकी बहुत विशाल पांच वस्तुएँ बनाई। पहिली वस्तु के ८८०००० पद और दूसरी के १८१०५००० पद बनाये। तीसरी वस्तु में चौदह पूर्व की विद्या का समावेश किया:—(१) "उत्पाद पूर्व" में धर्मास्ति आदि छः द्रव्यों का स्वरूप दर्शाया। जिसकी १० वस्तु के ११००००० पद हैं (२) "अग्रिप्रवाद पूर्व" जिसमें द्रव्य गुण पर्याय का स्वरूप है। जिसकी ४ वस्तु के २२००००० पद है (३) "वीर्य प्रवाद पूर्व" जिसमें सब जीवों के बल—वीर्य—पुरुषाकार—पराक्रम का वर्णन है। इसकी ८ वस्तु के ४४००००० पद हैं (४) "आस्ति नास्ति प्रवाद पूर्व" में शाश्वती अशाश्वती वस्तुओं का कथन है। इसकी १६ वस्तू के ८८००००० पद हैं (५) "ज्ञान प्रवाद पूर्व" में पॉच ज्ञान का बर्णन है। इसकी १२ वस्तू के १७६००००० पद है (६) "सत्य प्रवाद पूर्व" में १० प्रकार के सत्य का वर्णन है। इसकी १२ वस्तु के २५२००००० पद हैं (७) "आत्म प्रवाद पूर्व" में आठ आत्मा का वर्णन है। इसकी १६ वस्तु के ३०४००००० पद है (८) "कर्म प्रवाद पूर्व" में आठ कर्म की प्रकृति उदय—उदीरिणा—सत्ता वगैरह का बर्णन है। इसकी १६ वस्तू के ६०८००००० पद हैं। (९) "प्रत्याख्यानप्रवाद पूर्व" में दश प्रत्याख्यान के ९००००००० भेदों का वर्णन है। इसकी ३० वस्तू के १२१६००००० पद हैं। (१०) "विद्या प्रवाद पूर्व" में रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं का एवं मंत्रादि का विधियुक्त वर्णन है। इसकी १४ वस्तु के २५००००००० पद हैं (११) "कल्याण प्रवादपूर्व" में आत्मा के कल्याण करने वाले ज्ञान—संयम—तप का वर्णन है। इसकी १० वस्तु के ४८६४००००० पद हैं (१२) "प्राण प्रवाद पूर्व" में चार प्राण से लगाकर दश प्राण तक के धारण करने वाले प्राणियों का

वर्णन है। इसकी १० वत्थु के ९७२८००००० पद हैं (१३) "क्रिया विशाल पूर्व" में साधु और श्रावक का आचार तथा २५ क्रियाओं का वर्णन है। इसकी १० वत्थू के एक क्रोड़ा क्रोड़ी और एक क्रोड़ पद हैं। और १४ वें "लोक बिन्दु सार पूर्व" में सर्व अक्षरों के सन्निपात (उत्पत्ति का रूप) और सर्व लोक में रहे हुए पदार्थों का वर्णन है। इसकी १० वत्थू और दो क्रोड़ा क्रोड़ी पद हैं। यह १४ पूर्व की विद्या जो कोई कदापि लिखे तो पहिला पूर्व लिखने में एक हाथी डूबे जितनी स्याही लगे, दूसरे में दो हाथी डूबें जितनी स्याही लगे, तीसरे में चार हाथी डूबें जितनी स्याही लगे—यों दुगुने करते हुए चौदही पूर्व लिखने में १६३८३ हाथी डूबें जितनी स्याही लगे, इतनी बड़ी दृष्टि वाद अंग की तीसरी वत्थू रची। चौथी वत्थू में ६ बातें हैं। पहिली बात के ५०० पद और शेष पांच बातों के अलग अलग २०९८९०२०० पद हैं। दृष्टि वादांग की पांचवी वत्थू का नाम चूलिका है, जिसके १०५९४६००० पद हैं। इतना बड़ा ज्ञान का सागर दृष्टि वादांग बनाया।

इस तरह द्वादशांगमय जिनेश्वर की वाणी की रचना करके गणधर महाराजों ने मुमुक्षुओं पर बहुत असीम उपकार किया है।

यह द्वादशांग वाणी केवल श्री ऋषभ देवजी भगवंत ने फरमाई और ऋषभसेनजी गणधर ने रची—ऐसा नहीं जानना। यह तो प्रवाह रूपेण अनादि काल से चली आती है, और अनंत काल तक चली जायगी। जो भी तीर्थंकर भगवंत गत काल में हुए और अनागत—आगामी काल में होंगे, उन सबने ऐसी ही वाणी वागरी है एवं वागरेंगे और उनके गणधरों ने रची है—एवं रचेंगे। केवल चरितानुवाद कथा का (ऐतिहासिक) जो कथन होता है उसमें अंतर पड़ता है। जैसा जैसा जिस कथानुयोग में समास होता है वैसा वैसा उस समय में या थोड़े काल में बने हुए बनाव का समावेश, उसमें तीर्थंकर तथा गणधर महाराज कर देते है। वह कथा भाग, उनका शासन चले वहां तक या उस सर्पणी आदि विशेष काल तक चलता है। अवसरानुसार बदला भी जाता है, परन्तु परमार्थ मतलब तो वही बना रहता है। अर्थात् उसही मतलब जैसा उस समय में

का घटित वर्णन वहां करने में आता है, जिससे वह विशेष असर कारक होता है। जैसे उपाशक दशांगजी में भगवंत श्री महावीर स्वामी के बारे में हुए दश श्रावकों का कथन है। और श्री नेमिनाथ भगवंत के समय के उपाशक दशांग का दूसरा अध्याय " झूटलजी नामक श्रावक " का मेरे देखने में आया है। ऐसे ही जिन जिन तीर्थकरो की जिस जिस समय प्रवृत्ति होती है उस उस समय के बनावका कथन, चरितानुवाद में कहा जाता है। इसलिये प्रवचनशास्त्र द्वादशांग मे प्रवृत्त हुई श्री जिनेश्वर भगवंत की यह वाणी, अनादि अनंत है।

यह तो प्रवचन अर्थात् जैन शास्त्र—जैनागम—की उत्पत्ति का वर्णन किया गया। अब त्रिषष्टि शला का पुरुष चरित्र के अष्टम पर्व के द्वितीय सर्ग के अनुसार, चार वेद आदि अन्य मतावलम्बियों के शास्त्रों की उत्पत्ति कहते हैं।

श्री ऋषभ देवजी के जेष्ठ पुत्र भरत नामक चक्रवर्ती, षट खण्ड में आज्ञा प्रवर्ताकर पीछे स्वस्थान आये, परन्तु फिर भी चक्ररत्न ने आयुधशाला में प्रवेश नहीं किया। तब पुरोहितजी बोले कि आपके जो ९९ भाई हैं, उन्होंने अभी तक आज्ञा नहीं मानी है। अतः उनसे आज्ञा मनवाइये, फिर यह चक्ररत्न आयुधशाला में प्रवेश करेगा। अस्तु भरतजी बाहूबलीजी के सिवाय ९८ भाइयों को बुलाकर कहने लगे कि तुम स्वस्थानों में सुख से राज करो, परन्तु इतना ही कहो कि " हम तुम्हारी आज्ञा में हैं "। यह बात उन ९८ भाइयों को पसंद नहीं आई। अतः वे अपने पिता श्रीऋषभ देवजी के पास आये और कहने लगे कि—आपने तो सबको अलग अलग राज देकर दीक्षा ली, किन्तु अब भरत राज के घंमड में आकर जबरदस्ती हमसे अपनी आज़ा मनवाता है। अतः इस विषय में आप फरमावो सो करें? तब भगवंत ने फरमाया कि—" सबुझ किं न बुझह संवोही खलु पेच्च दुल्लहा " अर्थात् अहो मगधादि राजपुत्रो! बूझो—बूझो प्रति बोध पावो! क्यों नहीं चेतते हो? इससे भी अधिक राज इस जीव को अनंती बार प्राप्त होगया परन्तु कुछ गरज सरी नहीं। गरज सारने वाला तो एक बोध बीज सम्यक्त्व रत्न ही है। इसलिये उसीको स्वीकार करो। वह तुम्हें ऐसा

राज देवेगा कि जिसपर भरत का तो क्या, परन्तु काल जैसे दुर्दान्तका भी कुछ जोर चलने वाला नहीं है। इत्यादि सद्बोध श्रवण कर ९८ ही भाइयों ने दीक्षा धारण करी। यह समाचार श्रवण कर भरतजी बड़े दिलगीर हुए। और लौकिक अपवाद मिटाने के लिये तथा भाइयों को खुश करने के लिये गाड़ी में मिष्टान्न भर कर वहां लाये * और भगवंत से प्रार्थना करी कि मेरे भाइयों–मुनिवरों–को यह आहार ग्रहण करने की आज्ञा दीजिये। भगवंत ने फरमाया कि सन्मुख लाया हुआ आहार, साधु को नहीं कल्पता है। तब भरतजी बड़े विचार में पड़े और पूछा कि अहो प्रभू! अब इस आहार का क्या करूँ? तब शक्रेन्द्रजी ने कहा कि तुम्हारे से जो गुणाधिक होवें उन्हें देने में भी नफा ही है। यह सुन भरतजी ने विचारा कि मेरे से गुणाधिक तो पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक हैं। इसके बाद भरतजी ने श्रावकों को भोजन कराया। और उन श्रावकों से कहा कि आप सब मेरे महल के नीचे की धर्मशाला में विराजे रहो, धर्म ध्यान करते रहो और हर वक्त "जितो भगवान वर्द्धते भय तस्मान्माहन माहनेति" + यह शब्द उच्चारण करते रहो। तुम्हारी वस्त्र आदि यथोचित भक्ति का प्रबंध मैं करूंगा। श्रावकों ने यह बात स्वीकार करली। और भरतजी जब भोग में मशगूल होते थे उस वक्त श्रावकों का उपरोक्त शब्द सुन कर वैरागी बन जाते थे। श्रावकों के मुख से माहन शब्द श्रवण कर सब लोग उनको "माहन" नाम से बुलाने लगे। (यहां से ब्राह्मण× की उत्पत्ति हुई) भरतजी के यहां सीधा भोजन मिलता देख कर बहुत से लोग श्रावक होगये। तब भरतजी ने परीक्षा करके÷ जो सच्चे श्रावक थे

* उस वक्त धर्म की प्रवृत्ति हुए थोडा ही समय हुआ था, जिससे लोग साधु के आचार से बहुत कम वाकिफ थे।

+अर्थात् क्रोधादि कषाय जगत को जीत रही है और उससे ही भयकी वृद्धि होती है।

× माहण शब्द मागधी भाषा का है, इसका अर्थ ब्राह्मण होता है।

÷ जीव सहित जगह पर श्वेत तम्बू बंधाया और निर्जीव जगह पर काला तम्बू बंधाया और ढिंढोरा पिटाया कि जो श्रावक हों श्वेत तम्बू के नीचे खड़े रहे

वे रख लिये और उनको पहचानने के लिये कांगणी रत्न से कपाल पर तीन लकीर खेंचदी। (यह तिलक की उत्पत्ति) तथा उनको पढ़ने के लिये श्री ऋषभदेवजी के वचनानुसार श्री ऋषभ देवजी की स्तुति एवं श्रावकाचारगर्भित चार वेद रचे। जिनके नाम ये हैं— १ संसारदर्शन वेद २ संस्थापन परामर्शन वेद ३ तत्व बोध वेद ४ और विद्या प्रबोध वेद। (यह वेदोत्पत्ति) * ये चार ही वेद नवमे सुविधि नाथ भगवान तक तो वैसे ही रहे, किन्तु उनके शासन काल में हूंडा सर्पणी काल के प्रभावसे चारों तीर्थ का विच्छेद हो गया, और ब्राह्मणों से श्रावकों का आचार

और दूसरे लोग काले तम्बू के नीचे खड़े रहे। ऐसा सुन कर बहुत लोग श्वेत तम्बू के नीचे भर गये और थोडे से श्रावक काले तम्बू के नीचे खड़े रहे। भरतजी ने वहां आकर पूछा तो श्वेत तम्बू वाले सब बक उठे कि हम श्रावक हैं। काले तम्बू वाले बोले कि हमारे में श्रावक के गुण है या नही, सो परमेश्वर जाने। हमतो वहां जीवों का घमशान देख कर यहां आकर खड़े हैं। भरतजी ने इनको ही सच्चे श्रावक जान कर भक्ति करी।

* इसी समय सांख्य मत की उत्पत्ति हुई सो कहते हैं— जिस समय श्री ऋषभ देवजी ने दीक्षा ली उस समय उनके साथ भरतजी के ५०० पुत्रों ने भी दीक्षा ली थी। उनमें से एक का नाम मरीचि था। उससे मुनि दीक्षा का निर्वाह नहीं हुआ, और वापिस ससार में जाते हुए शरम आई। तब एक मनकल्पित मत खड़ा किया। साधु तो मन आदि त्रिदंड से विरत है और मै त्रिदण्ड से सर्वथा विजित हूं, इसलिये त्रिदण्ड (ती खोनी लकड़ी) रक्खूंगा। साधु तो संयम से शुद्ध है, और मैं कषाय से मलीन हूं —इसलिये भगवें रंग के वस्त्र धारण करूगा। साधुओ के शिर पर तो जिनाज्ञा रूप छत्र है, और मैंने जिनाज्ञा का भग किया, इसलिये काष्ट का छत्र धारण करूगा। इत्यादि मनकल्पित रूप धारण कर एवं महाव्रतो का भंग कर फक्त अनुव्रती रहा। स्थूल प्राणातिपात आदि व्रत पालने लगा, और श्री ऋषभ देवजी के साथ साथ विचरने लगा। (यहा से त्रिदडी के मत की स्थापना हुई) समवसरण के बाहिर रहता हुआ ही उपदेश करता और किसी को वैराग्य आता तो दीक्षा लेने के लिये श्री ऋषभदेवजी के पास भेज देता। एक वार बीमार होजाने पर किसी साधु श्रावक ने इसकी

नहीं पलने से उन्होंने वेदों का अर्थ पलट दिया तथैव नाम भी पलट कर ऋग, यजु, साम, और अथर्व वेद रखलिया। आगे चलकर पर्वत नामक आचार्य ने अज शब्द का जो पुराणा शाली धान्य अर्थ होता था, उसे भूल कर अज नाम बकरे * का स्थापन किया। और मान की मरोड़ में फिर

—भक्ति करी नहीं, तब एक शिष्य बनाने की इच्छा हुई। एक कपिल नामक गृहस्थ को वैराग्य आया, उससे कहा कि श्री ऋषभदेवजी के पास दीक्षा लो-मेरे में तो साधु के गुण नहीं हैं। कपिल बोला—मैं तो आपही का शिष्य होऊंगा। अपना अनुरागी जान कर चेला बनाया। मरीचि आयुष्य पूर्ण कर पंचम ब्रह्मदेवलोक में गया, कपिल के आसुरी नामक शिष्य हुआ। बाद मे कपिल भी आयुष्य पूर्णकर ब्रह्मदेवलोक मे गया, और अवधी ज्ञान से अपने शिष्य को अज्ञ जान कर वहां आया। और 'षष्टि तंत्र शास्त्र' की रचना कराई। उसमे अव्यक्त से व्यक्त और प्रकृति से महान, महान से अहंकार, अहंकार से गण षोड़स, गण षोड़शसे पंच तन्मात्र, और पंच तन्मात्र से पंच भूत उत्पन्न होते है, इत्यादि रचना रची। यह जैन से विरुद्ध प्रथमतः सांख्य मत के शास्त्र की उत्पति हुई।

* सुक्तिमती नगरी मे खीर कदंबकाचार्य के पास आचार्य का अपना पुत्र 'पर्वत' और राजा का पुत्र 'वसु' और ब्राह्मण का पुत्र 'नारद' विद्याभ्यास किया करते थे। उस वक्त आकाश मे जाते हुए जंघा चारण मुनि, दूसरे अपने साथी मुनि से बोले कि इन आचार्य के तीन शिष्यो मे से दो नरक गामी है और एक स्वर्ग गामी है। यह बात आचार्य ने भी सुनी और परीक्षा के लिये आटेके तीन मुरगे (कुकडे) बना कर तीनो को दिये, और कहा कि जहां कोई भी नहीं देखता हो वहा इन्हे मार लावो। दोनों तो विना विचारे एकान्त मे जाकर मार लाये। किन्तु नारद ने विचार किया कि कोई नहीं तो सर्वज्ञ तथा गुरु मै तो देख रहा हूं। यो विचार कर विना मारे ही गुरूजी को पीछा लाकर देदिया और पूछने से उपजा हुआ विचार कह दिया। यह देख कर यानी अपने पुत्र और राज पुत्र को नरक गामी जानकर आचार्य ने वैराग्य प्राप्तकर दीक्षा लेली। पर्वत गुरुजी की गादी पर बैठा और उधर वसु राजा भी पिता की गादी पर बैठा और नारद [illegible] होकर देशाटन करने लगा। एक समय पर्वत अपने शिष्योंको विद्याभ्यास करा रहे थे, कि उसी समय नारदजी भी वहीं थे। 'अजैर्यष्टव्यमिति'

उस अर्थ को नहीं पलटते हुए 'अजा मेध यज्ञ' की स्थापना करी। और फिर पर्वत को "महाकालासुर" परमाधामी देवकी सहायता मिली।

—इस श्रुति का अर्थ पर्वत ने बकरा होमना करा। तब नारद ने कहा गुरू जी ने तो इसका अर्थ निर्जीव तीन वर्ष का शाली किया था; तुम ऐसा खोटा अर्थ मत करो। यह बात पर्वत ने कबूल नहीं करी, और वसु राजा के पास निर्णय करे एवं वहां जो झूठा ठहरे वह अपनी जिह्वा कटवावे, ऐसी शर्त लगाली। यह बात पर्वत की माता ने जानी और अपने पुत्र की रक्षा के लिये तुरत वसु राजा के पास गई। पुत्र की भिक्षा मांगते हुए सब हाल कह दिया। वसु राजा ने गुरु पत्नी की शर्म मे आकर अभय बचन दिया। इतने मे दोनो आये। सब बात कही। वसु राजा ने मिश्र भाषा बोली कि गुरु जी ने बकरी और शाली दोनो ही अर्थ किये थे। इतना बोलते ही देवयोग से वसु राजा, अधर सिंहासन से नीचे गिरा और मरकर नरक मे गया। नारद देशाटन को चला गया। इधर पर्वत ने अपना कुमत बढ़ाना शुरू रक्खा। उसी समय की बात है कि चरणु-युगल नगर के अयोधन राजा की दिती नामक कन्या का मन, अपनी माता के भतीजे मधु पिंगल के साथ पाणिग्रहण यानी विवाह करने का था। परन्तु दिती को व्याहने के लिये एक सागर नामक राजा उत्सुक हुआ। उसने अपने पुरोहित से खोटी संहिता रचाई और दिती के स्वयंवर मडप मे सागर राजाने ठराव किया कि 'जो राजा अपलक्षणी होवे उसे सबरा मडप के बाहिर निकाल देना चाहिये'। फिर पुरोहितजीने अपनी कल्पित संहिता सबको सुनाई, जिसे श्रवण कर मधू पिंगल अपने को अपलक्षणी समझकर मडप से निकल गया, और सन्यासी बन के अज्ञान तप कर मर गया, और महा कालासुर नामक परमाधामी देव हुआ। विभग ज्ञान से दिती के साथ सागर को सुख भोगता देखा और सब कपट जान गया। क्रोध मे धमधमायमान हो सागर को नरक मे डालने के लिये पर्वत के पास आकर कहने लगा कि तुमने हिंसामय यज्ञकी स्थापना करी सो अच्छा किया, मैं भी तुम्हारा सहायक हूँ। चलो सागर राजा को भी इस धर्म मे लावे। यो कह सागर के शरीर में अत्यन्त वेदना करदी और ग्राम मे भी बीमारी चलाई। जिससे राजा प्रजा सब घबरा गये। तब पर्वत ने सौत्रामणी अजामेध यज्ञ कराया, जिससे शाति हुई। यहा से यज्ञ कर्म की अधिकाधिक वृद्धि होने लगी।

उस देवने पूर्व भव का वैर लेने के लिये एवं सागर नामक राजा को नरक में डालने के लिये भरमा कर हिंसक यज्ञ की खूबही वृद्धि कराई। इनकी देखा देखी राजपुर के मरुत राजा ने भी यज्ञ में अनेक पशू होम ने शुरू किये, उसको नारदजी ने हिंसक यज्ञ से बचाकर धर्म यज्ञ बताया कि—जो स्वर्ग चाहता हो तो तप रूप अग्नि, ज्ञान रूप घृत, कर्म रूप इंधन से कषाय रूप पशुओं का आत्म रूप यष्टा के द्वारा यज्ञ कर। यह सुनकर हिंसक-गुरू क्रोधातुर होगए तथा नारद को मारने के लिये एक दम टूटपड़े—तब नारदजी भाग कर जैन धर्मी राजा रावण के पास गये, और उसको सब हाल बतलाया। रावण तुरन्त राजपुर आया और यज्ञ करना बंद कराया, जिससे वेदांतियों ने रावण को वेदों को खण्डन करने वाला राक्षस ठहराया। ऐसे ऐसे कितने ही कारणों से अन्य मतावलम्बियों के शास्त्रों में हिंसा घुम गई है, नहीं तो सर्व मतों के शास्त्रों की उत्पत्ति का मुख्य हेतु श्री जिनेश्वर की वाणी ही है। ※

यह संक्षेप में अन्य मतावलम्बियों के वेदादि शास्त्रों की उत्पत्ति के विषय में कुछ ऐतिहासिक विवेचन किया है। इसी प्रकार पुराणों वगैरह की उत्पत्ति सम्बन्धी भी कितनीक बातें मिलती है, परन्तु व्यर्थ ही ग्रन्थ—गुरुता होजाने के कारण से यहां नहीं लिखा। सब शास्त्रों की उत्पत्ति का मुख्य हेतु इस काल में श्री ऋषभ देव भगवंत की वाणी ही है। इसी वाणी को सरस्वती वगैरह सोलह × नामों से मानों प्रशंसा करी हो, ऐसा प्रतीत होता है।

※ इसी तरह का वर्णन श्रीमद्भागवत के स्कंध ७ अध्याय १४ और श्लोक ७-८ में हैं। जिस प्रकार वहा प्राचीनवर्हिनामक राजा को सद्बोध देकर हिंसक यज्ञ से बचा लेने का बोध किया हैं, वैसा ही बोध यहां मरुत राजा को किया है।

आर्य समाज प्रवर्तक दयानन्द सरस्वतीजीने भी वेदो की श्रुतियो का जो हिंसामय अर्थ था उसे पलट कर सुधार किया है सो प्रसिद्ध है।

× १ कंठ से जिसकी उत्पति सो 'सरस्वती' २ सार—सार पदार्थो को दर्शावे सो 'शारदा' ३ सर्वोत्तम गुणो से भरी हुई सो 'भारती' ४ हंस यानी चैतन्य के निज गुण को धारण करने वाली सो 'हस वाहनी' ५ सर्व जगत् मे मानी जाय—

जिस तरह श्री ऋषभ देवजी ने आगम वाणी प्रकाशी और उस-भसेण गणधरजी ने द्वादशांग में कथन करी, उसी तरह अजित नाथ भगवंत ने प्रकाशी और उनके गणधरों ने कथी। यों यह जिन-वाणी रूप गंगा का प्रवाह आगे बढ़ता बढ़ता चौवीसवें तीर्थंकर श्री महा-वीर स्वामी तक चला आया। अनादि काल से सृष्टि का यह नियम है कि एक अवसर्पणी या उत्सर्पणी काल में चौवीस से ज्यादा तीर्थंकर नहीं होते हैं। इस नियम के अनुसार आगे तीर्थंकर नहीं होनेपर भी गौतम स्वामी एवं सुधर्मा स्वामी आदि आचार्यों ने जिन वाणी का प्रवाह आगे चालू रक्खा, तो भी काल दोष के प्रभाव से ज्यों ज्यों स्मृति की न्यूनता तथा शून्यता होती गई त्यों त्यों ज्ञान भी घटता गया। इस प्रकार आचार्यों ने तथा गणधरों ने बारहवें दृष्टि वादांग का विच्छेद होता देख कर तदनुसार ग्यारे अंगों के उपांगों की रचना करी।

(१) आचारांगजी का उपांग 'उववाई सूत्र' है। आचारांगजी में साधु के आचार विचार का वर्णन है, सो तदनुसार आचार वंत साधु, तप संयम में सदा उद्यमवंत रहे, इसलिये उववाइजी में भगवंत श्री महा वीर स्वामी के समीप में रहने वाले चौदह हजार साधुओं के ३५४ प्रकार के तप का कथन किया। तथा कौनसी करणी से जीव विराधक (भगवंतकी आज्ञा का उल्लंघन करने वाला)होता है, और कौनसी करणी से आराधक होता है, करणी का आगे क्या फल होता है, मोक्षका स्वरूप कैसा? इत्यादि अधिकारों का कथन किया।

—सो 'जगविख्याता' ६ सर्व वचनों मे उत्तमता की धारक सो 'वागेश्वरी' ७ सदा कौमार यानी ब्रह्मचर्य अवस्था धारण करने वाली सो 'कौमारी' ८ ब्रह्म यानी नि-र्विकल्प समाधि पदको स्थापन करने वाली सो 'ब्रह्मदायनी' ९ सर्व दोष रहित सो 'विदुषी' १० ब्रह्म—निज रूपको प्राप्त करने वाली सो ब्रह्मदायनी, ११ ब्रह्म-रूपसे प्रगटी सो 'ब्राह्मणी' १२ इच्छित पदार्थ की दाता सो 'वरदायनी' १३ शुद्ध वाणी सो 'वाणी' १४ सर्व भाषा में उत्तम सो भाषा, १५ बुद्धि उत्पन्न करने वाली सो श्रुत देवी, और १६ सर्व द्वंदविध्वंसनी सो निर्द्वंद्विनी। ये सरस्वती देवी के सोलह नाम हैं।

मंडल-दक्षिणायन उत्तरायण-पर्व राहु-सूर्य आदि के पांच संवत्सर और १९४ अंक तक की गिनती आदि का कथन किया है।

(८) उपाशक दशांगजीका उपांग "निरियावलिकाजी" है। उपाशक दशांगजी में तो गृहस्थावास में रहकर धर्म करणी करने वाले गृहस्थोंकी धर्मक्रिया एवं गति आदि का वर्णन है। और निरियावलिका में जो गृहस्थ पाप कर्म में जन्म पूरा करते हैं उनकी तीर्यंच या नरक गति होने का वर्णन है। तथा पाप के ठिकाने पर भी जो विनायक नागनतुवा तथा उसके मित्र की तरह धर्म में रत होजाते हैं उनका भी सुधारा हो जाता है, इत्यादि कथन किया है।

(९) अंतगड दशांगजी का उपांग "कप्पवडंसियाजी" है। अंतगड जी में कर्म क्षय करके मोक्ष में गये हुओं का वयान है, और कप्पवड़ंसियाजी में करणी करते हुए जिन के पूरे कर्म नहीं खपे और जो देव लोक में ही रह गये, उनका अधिकार है।

(१०) अनुत्तरोववाईजी का उपांग "पुष्फियाजी" है जिन महान् पुरुषों ने संयम धर्म की पूर्ण रूपेण आराधना की वे सर्वोत्कृष्ट सुख के स्थान अनुत्तर विमान में पैदा हुए, यह अधिकार अनुत्तरोववाईमें है। और जिन्होंने अंगीकृत संयम धर्म की पूर्णतया आराधना नहीं की वे जोतिषी आदि सामान्य देवता चन्द्र, शुक्र, मणीभद्र, पूर्णभद्र आदि बने-यह अधिकार पुष्फिया जी में है।

(११) प्रश्न व्याकरणजी का उपांग "पुप्फचुलियाजी" है। आश्रव और संवर रूप करणी का स्वरूप प्रश्न व्याकरणजी में कहा। और आश्रव एवं संवर दोनों की मिश्रित करणी होने से स्त्री पर्याय की प्राप्ति होती है-इत्यादि के खुलासे के लिये श्री, ह्री, धृति, कीर्ति आदि देवियों का और उनकी पूर्व जन्म संवन्धी क्रिया का अधिकार पुप्फ चुलियाजी में कथित है।

(१२) विपाकजी का उपांग "वन्हिदशाजी" है। विपाकजी में शुभाशुभ कर्मों के फल बताये गये हैं। और शुभ कर्मों का विशेष आधिक्य होने से बलभद्रजी के निषढादि कुमार देवलोक के सुख भोग कर

मुक्ति में पधारेंगे—यह वर्णन वन्हि दशा में किया।

इस के अतिरिक्त भगवंत श्री महावीर स्वामी ने मोक्ष पधारते समय सूक्ष्म और बादर समासों में तत्व ज्ञान से भरपूर रत्न करंड के समान "श्री उत्तराध्यनजी सूत्र" फरमाया। तथा सयंभवाचार्य ने अपने सांसारिकपुत्र मनक मुनि के लिये संक्षेप में साधु का आचार बतानेवाला "दशवैकालिक सूत्र" और इसी प्रकार ज्ञान तथा बुद्धि का स्वरूप बताने वाला "नंदीजी सूत्र" बनाया। तत्पश्चात् निक्षेपोंके सूक्ष्म ज्ञान का बताने वाला "अनुयोगद्वार सूत्र" तथा साधुओं के आचार को शुद्ध बनानेके लिये "व्यवहार" कल्प आदि छेद सूत्र तथा "पइन्ना" आदि बहुत से विभाग बनाकर सूत्र की विद्या कंठाग्र रखने का प्रयास चला। यह प्रयास भगवंत श्री महावीर स्वामी के मोक्ष पधारे पीछे ९७५ वर्ष से कुछ अधिक काल तक चालू रहा। इस समय में सत्ताईसवें पट्टधर श्री देवढीगणी क्षमा श्रमण विराजमान थे, उनके सामने घटते घटते मात्र एक पूर्व जितना ही ज्ञान कंठाग्र रह गया था। और एक बार ऐसा योग बना कि आचार्य महाराज किसी व्याधि की निवृत्ति के लिये सूंठ की गांठ लाये थे। और शाम को पाणी चुकाने के बाद खा लेवेंगे के विचार से कान में रखली किन्तु शाम को उसे खाना भूल गये। प्रति क्रमण करती दफा जब वंदना नमस्कार करने के लिये नीचे की ओर झुके तो वह सूंठ की गांठ संमुख आपड़ी। उसे देखकर आचार्य महाराज को विचार हुवा कि अभी एक पूर्वका ज्ञान होते हुए भी जब स्मृति में इतना फरक पड़गया है, तब आगे तो बहुत ही फरक पड जायगा, फिर कंठाग्र ज्ञान रहना मुशकिल होजायगा और ज्ञान का अभाव होने से, इस भारत वर्ष में अज्ञान मिथ्यात्व रूप अन्धकार में फँस कर बिचारे धर्मार्थी जीव कालीधार डूब जावेंगे—ऐसी करुणा लाकर लिखित ज्ञानकी जरूरत समझी और तदनुसार शास्त्र × लिखने शुरु किये।

× पाठक वृन्द ! जो गत पृष्ठों मे द्वादशांगी ज्ञानका पदों से प्रमाण बताया गया है उस मे की मात्र द्वादशम दृष्टि वादाग की एकही वत्थू के—जिस मे १४ पूर्व के ज्ञान का समावेश हुवा है—लेख करने मे १६३८३ हाथी डूवें इतनी स्याही—

उक्त समय में द्वादशांग आदि शास्त्रों के जितने मूल श्लोक लिखे गये, उनका परिमाण बताया जाता है—(१) आचारांगजी के मूल श्लोक २५००, (२) सुयगडांगजी के २१००, (३) ठाणांगजी के ३७७०, (४) समवायांगजी के १६६७, (५) भगवतीजी के १५७७२, (६) ज्ञाता धर्म कथांग के ५५००, (७) उपासक दशांग के ८१२, (८) अंतगड दशांग के ७९०, (९) अणुत्तरोववाई के १९२, (१०) प्रश्न व्याकरण के १२५०, (११) विपाकके १२१६—इस प्रकार ग्यारह अंग लिखे और (१) उववाइजी के ११६७, (२) रायपसेणीजी के २०७८, (३) जीवाभिगमजी के ४७००, (४) पन्नवणाजी के ७७८५, (५) जंबूद्वीप प्रज्ञप्तीजी के ४४४६, (६) चन्द्र प्रज्ञप्ती के २२००, (७) सूर्य प्रज्ञप्ती जी के २३०० (८–१२) निरयावलिका, कप्पिया, पुप्फिया, पुप्फ चूलिया और वन्हि दशा—इन पांचों का एक ही वर्ग होने से सब मिलाकर ११०९ – ये बारह उपांग लिखे। (१) व्यवहार के ६०० (२) बृहत्कल्प के ४७३, (३) निशीथ के ८१५, (४) दशा श्रुतस्कन्ध के १८३० ये चार छेद। (१) दशवैकालिक के ७००, (२) उत्तराध्ययनजी के २०००, (३) नंदीजी के ७००, (४) अनुयोगद्वार के १८९९- ये चार मूल सूत्र। और आवश्यक के १०० श्लोक। इनके अतिरिक्त अन्य सूत्र भी लिखे जिनके नाम नीचे लिखे अनुसार है—१ दशा कल्प,

—लगती है, तो द्वादशाग का संपूर्ण ज्ञान लिखने मे कितनी स्याही, कागज, कलमें और समय का व्यय होवे सो उसका प्रमाण आपही अपनी बुद्धि से कर लीजिये ! इतना लेख गतकाल में किसी ने लिखा नहीं, वर्तमान काल में कोई लिख सकता नहीं, और आगामी काल मे कोई लिखेगा भी नहीं। ऐसे तो वे ही महा प्रबल बुद्धि के धारी लब्धिवंत मुनिराज महाराज थे, जो कंठाग्र कर सकते थे। अन्यकी क्या ताकत जो इतना ज्ञान याद रख सके। परन्तु परम उपकारी श्री देवर्द्धी गणी क्षमा श्रमण महाराजने उस द्वादशांग में से सार सार लिखना शुरू किया, दूसरे विद्वान मुनियो से लिखाया और उनकी देखा देखी अन्य आचार्यों ने भी लिखा, यो अलग अलग लेख होने से कितने ही स्थानों में पाठान्तर होगये है।

२ महा निशीथ ३ ऋषि भाषित ४ दीप सागर प्रज्ञप्ती ५ खुडिया विमाण विभत्ति ६ महालिया विमाण विभत्ति ७ अंग चूलिया ८ वंग चूलिया ९ विवहारचूलिया १० अरुणोववाए ११ वरुणोववाए १२ गरुडोववाए १३ धरणोववाए १४ वेसमणोववाए १५ वेलंधरोववाए १६ देविंदोववाए १७ उठाणसुय १८ समुठाणसुए १९ नाग परिया वलिया २० कप्पवडिंसिया २१ कथिआ कप्पिया २२ चूलकप्प सुयं २३ महा कप्प सुयं २४ महापन्नवणा २५ पम्माय पवायं २६ देविन्द्रस्तव, २७ तंदुल वियालिया, २८ चंदग विझयं २९ पोरसीमंडल ३० मंडल प्रवेश ३१ विद्या चारण विणज्जउ ३२ गणिविज्जा ३३ ज्ञाण विभत्ति ३४ मरण विभत्ति ३५ आय विसोही ३६ वियरायसुयं ३७ संलेहना सुयं ३८ विहार कप्पो ३९ चरण विसोही ४० आउरपच्चखाण ४१ महापच्चखाण ४२ दृष्टिवाद। * इस प्रकार ७२ शास्त्र का लेखन हुआ। सूत्रों के नाम तथा विषय नंदीसूत्र से मालूम होते हैं; क्योंकि नंदीजी में बहत्तर ही नाम हैं। ये सूत्र लिखकर भण्डार में बहुत जापते के साथ रक्खे गये। इसके बाद इस हूंडा सर्पणी के भारी कर्मी जीवों के पापोदय के कारण बारह-बारह वर्ष के दो बार बड़े भयंकर दुष्काल पड़े, जिनमें संयमियों के संयम का निर्वाह होना मुशकिल होगया। ७८४ साधु तो संथारा करके स्वर्ग पधार गये। शेष रहे साधु उदर पूर्ति के लिये भेष बदल कर यंत्र–मंत्र आदि के द्वारा निर्वाह करने लगे। उन्होंने ज्ञान भण्डार की सार संभाल बिलकुल ही नहीं की। पुनः अनार्यों और अन्य धर्मियों का जोर बढ जाने से उन्होंने अनेक जैन शास्त्रों का नाश किया। बहुत से शास्त्र पानी में डुबा दिये गये, आग में जला दिये गये—इस प्रकार अनेक विघ्नों के उत्पन्न होने से जैन ज्ञानको बड़ा जबर दस्त धक्का लगा, बहुत ज्ञान का नाश हुआ। फिर कल्प सूत्र में कहे अनुसार भगवंत श्री महावीर स्वामी के नाम पर बैठे हुए २००० वर्षके अवधिवाले भस्म ग्रह का जब जोर कम हुआ, तब नाम मात्र रहे हुये जैन साधुओं की आँखें खुलीं और उन्हें जैन शास्त्रों के

* यह बारहवे अग के नाम से ही किसी दूसरे शास्त्र की रचना हुई दिखती है।

भण्डार की याद आई। अस्तु भंडारों को खोलकर देखा तो बहुत से शास्त्र तो कीडों के खाद्य बन चुके थे और कितने ही अत्यंत जीर्ण शीर्ण होगये थे। उस नष्ट भ्रष्ट शास्त्र पुंज में से मात्र ऊपर कहे हुए बत्तीस शास्त्र तो पूर्ण निकले और शेष गत पृष्ठों में गिनाये हुये चालीस शास्त्रों का बहुत सा भाग नष्ट होगया। तब कितनेही शास्त्र तो आचार्यों ने पूर्वा-पर समास मिला कर पुरे कर दिये और कितनेही पूर्वोक्त नाम कायम रखकर दूसरे मन माने समाम जोड़ कर लिख लिये। जैसे महा निशीथ सूत्र आठ आचार्यों ने मिलकर बनाया है, यह खुलासा उसी में है। इस लिये ही आवश्यक सूत्र की वृत्ति में कहा है कि इस काल में कालिक सूत्र २१ और उत्कालिक सूत्र १५—यों ३६ सूत्र नहीं हैं, बाकी के सूत्र हैं।

देखिये भव्यों! इस पंचम कालके मनुष्यों के पुण्य की हीनता। इस समय तीर्थंकर भगवंत, केवल ज्ञानी, गणधर महाराज, मन पर्यव ज्ञानी, अवधि ज्ञानी, श्रुत केवली, पूर्वधारी आदि महान् ज्ञान के सागर पुरुषों में से एक भी दृष्टि गत नहीं होते हैं ; और जो कुछ लिखित सूत्रों का आधार था वह भी इतना कम होगया है। इतने थोड़े से ज्ञान के आधार से भी इस समय में साधु—साध्वी—श्रावक—श्राविका रूप चारही तीर्थ अपने अपने तप संयम का निर्वाह कर रहे हैं, विना सेनापती कर्मों के साथ युद्ध कर रहे हैं, सिंह के समान गर्जना कर पाखण्डी वनचरों को भगा रहे हैं—किं बहुना, समय के अनुसार श्री जिनेश्वर भगवान के मार्ग का प्रकाश चारों तरफ फैला रहे हैं। ज्ञान में अपनी और अन्य की आत्मा को तल्लीन करते हैं। उक्त संयमी जीव भी परमात्म पद प्राप्त करने के अधिकारी हैं। कहा भी है—

एकम पितु जिन वचन निर्वाणपदस्य दायकं भवति।
श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिक मात्र पद सिद्धाः॥

अर्थात्—श्री जिनेश्वर भगवंत के मुख से प्रकासित हुआ एक भी पद, अभ्यास करने से उत्तरोत्तर ज्ञानकी प्राप्ति द्वारा संसार सागर से पार उतार देता है, क्योंकि केवल सामायिक मात्र पद से अनेक सिद्ध होगये, ऐसा अनेक स्थानों में श्रवण किया है।

ऐसे परम उपकारी श्री जिनेश्वर भगवंत के प्रवचन, इस पंचम काल में 'अजिणा जिण संकासा' अर्थात्—इस वक्त तीर्थंकर तो नही हैं, परन्तु उनके बचन ही तीर्थंकर जैसा उपकार करते प्रवर्त रहे हैं, सुखेच्छु जीवों के पूर्ण आधार भूत हैं। उन्हें भगवती सूत्रकी आदि में श्री गणधर महाराज ने भी "नमो बंभीए लिवीए" 'ब्राह्मी लिपी को नमस्कार हो-' इस रूप से अहो परमेश्वर! आपके वचनों को नमस्कार किया है। उनको मैं भी त्रिकरण त्रियोग की पूर्ण विशुद्धता के साथ नमस्कार करता हूं। और इन प्रवचनों के गहन ज्ञान का यथार्थ बोध श्री सद्गुरु के द्वारा ही होता है, अतः उनके गुण आगे के प्रकरण में दर्शाने की इच्छा रखता हुआ इस प्रकरण की यहां ही समाप्ति करता हूं।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का प्रवचन
गुणानुवाद नामक तृतीय प्रकरण
समाप्त।

प्रकरण—चौथा

"गुरु गुणानुवाद"
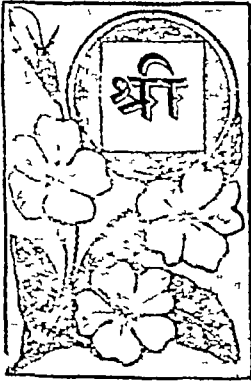
गुरु देवजी महाराज के गुणोंका कथन और उत्तमता तो अनादि सिद्ध सर्व मान्य श्री नवकार महा मंत्रही दर्शा रहा है, कि अष्ट कर्म के नाश करने वाले, श्री-जिनेन्द्र के वंदनीय, सर्व से अत्युत्तम, और सर्व के वरिष्ठ श्री सिद्ध परमात्मा हैं। उनका नाम नवकार महा मंत्र के पहले पदमें न देकर दूसरे पदमें स्थापन किया है। और जिन्होंने केवल ज्ञान के प्रभाव से जाने हुये द्रव्यादि पदार्थो का स्वरूप पैंतीस गुणों से युक्त वाणी द्वारा जगत वासी भव्य जीवों को बताया, या परमात्मा सिद्ध भगवंत का स्वरूप बताया, ऐसे सद् ज्ञान के दाता जगद् गुरु महाराज श्री अर्हत भगवंत को नवकार महा मंत्र के पहिले पदमें 'नमो अरिहंताणं' कह कर नमस्कार किया—इससे जाना जाता है कि मुमुक्षुओं को देव से भी अधिक गुरु की विनय भक्ति करने की आवश्यकता है: क्यों कि गुरु ही देवका सत्य स्वरुपस मझाने वाले हैं। इस विषय में एक वैष्णव कविने क्या ही अच्छा कहा है—

—गुरु गोविंद दोनो खड़े, किसके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु देवकी, जिन गोविंद दिये बताय॥

गुरु शब्द का मूलार्थ भारी यानी वजनदार होता है, परन्तु जो शरीर से या कर्मों करके भारी होवें, उनको देव से अधिक जानने का यहां भाव नहीं है। यहां तो जो गुणाधिक होवे अर्थात् ज्ञानादि गुणों से भारी होवें, उन गुरुओं को ही देवसे अधिक मानने का भाव दर्शाया गया है। शास्त्रों में जगतारक गुरु के मुख्य रूपेण छत्तीस गुण वर्णन किये है।

गुरु के ३६ गुण

पंचिन्दिय संवरणो, तह नव विह बंभ चेर गुत्तीधरो ।
चउविह कस्साय मुक्को, ए ए अठाररस गुणेहिं संयुत्तो ॥१॥
पंच महव्वय जुत्तो, पंच विहायार पालण समत्थो ।
पंच समिटतिगुत्तो, ए ए छत्तीस गुण गुरू मज्झं ॥२॥

अर्थात—१ 'अहिंसा'—स्वात्मा, परात्मा, जीव, त्रस, स्थावर आदि सबकी रक्षा करे २ 'अमृषा'—झूठ नहीं बोले, ३ 'अदत्तव्रत'—चोरी नहीं करे, किसी की बिना दीहुई वस्तु ग्रहण नहीं करे ४ 'ब्रह्मव्रत'—स्त्री, पुरुष, नपुंसक के साथ या किसी भी प्रकार से ब्रह्मचर्य का खंडन करे नहीं ५ 'अपरिग्रह'—सचित्त, अचित्त, मिश्र वस्तु पर ममत्व रक्खे नहीं (ये पंच महाव्रत धारण करे) ६ 'श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह'—विषयानुराग जागृत होवे, ऐसे शब्द कानों से सुने नहीं ७ 'चक्षु इन्द्रिय निग्रह'—विषयानुराग जागृत होवे, ऐसे रूप आंखों से देखे नहीं ८ 'घ्राणेन्द्रिय निग्रह'—विषयानुराग जागृत होवे, ऐसे गंध नाक से सूंघे नहीं ९ 'रसेन्द्रिय निग्रह' विषयानुराग जगे, ऐसा रस जिह्वा से भोगे नहीं १० 'स्पर्शेन्द्रिय निग्रह'—विषयानुराग जगे, ऐसे शयनासन वस्त्रादि भोगे नहीं और यदि कभी ये शब्दादि विषय सहज स्वभाव से ही इन्द्रियों में प्रगम जावें तो उनपर राग द्वेष करे नहीं (इन पांच इन्द्रियों का निग्रह करे) ११ 'ज्ञानाचार' ज्ञान का अभ्यास आप करे और दूसरों को करावे १२ 'दर्शनाचार' निर्मल सम्यक्त्व आप पाले और दूसरों से पलावे १३ 'चारित्राचार'—संयम आप निर्मल पाले दूसरों से पलावे १४ 'तपाचार' तपश्चर्या आप करे और दूसरों से करावे १५ 'वीर्याचार' धर्मोन्नति के कार्य में आप पराक्रम फोड़े तथा दूसरों से फोड़ावे [ये पांच आचार पाले-पलावे] १६ 'ईर्यासमिति'—

दिन के समय आंखों से जमीन को देखकर और अप्रकाशित जगह में तथा रात्री के समय रजोहरण से पूँज कर चले १७ ' भाषा समिति '– यथावसर सत्य तथा पथ्य बचन बोले १८ ' एषणा समिति '–सर्व प्रकार से निर्दूषण वस्त्र–पात्र–स्थान आदि याचना (मालिक आदि से मांग) कर भोगवे १९ ' आदान निक्षेपणा समिति ' वस्त्र–पात्र– आदि संयम योग्य उपधि, यत्ना से ग्रहण करे और भोगवे २० ' परिठावणिया समिति '– अयोग्य एवं अकल्पनीक वस्तु निर्वद्य स्थान में परठे यानी डाले। (ये पांच समिती पाले) २१ ' मनगुप्ति '–पाप कार्य में मनको नहीं प्रवर्तने दे २२ ' बचन गुप्ति '–सावद्य बचन नहीं बोले, २३ ' कायागुप्ति ' पाप के काम करे नहीं (ये तीन गुप्तियां पाले) २४ ' क्रोध निग्रह '– प्रकृतियों को क्रूर प्रणति से निवार कर शांत भाव धारण करे २५ ' मान-निग्रह '–प्रकृतियोंकी कठिन वृत्तिको निवार कर नम्र भाव धारण करे २६ ' माया निग्रह '– प्रकृतियों को वक्र भाव से निवार कर सरल करे २७ ' लोभ निग्रह '–विस्तार पाती हुई प्रकृतियों को रोक कर संकोचे एवं अल्पेच्छा धारी होवे (इन चार कषायों को जीते) २८ विकार उत्पन्न होवे, ऐसी जगह में रहे नहीं २९ विकार उत्पन्न होवे, ऐसी कथा वार्ता करे नहीं ३० विकार उत्पन्न हो, ऐसे आसन से या आसन पर बैठे नहीं ३१ विकारी शब्द कान में पड़ें वहां रहे नहीं, ३२ पूर्वकृत विकारी वृत्तियों का चिन्तन करे नहीं ३३ विकारी वस्तुओं का अवलोकन करे नहीं ३४ विकार उत्पन्न होवे ऐसा आहार करे नहीं ३५ विकार उत्पन्न होवे, इतना अधिक आहार करे नहीं ३६ और विकार उत्पन्न होवे, इस तरह शरीर को शृंगारित करे नहीं। (ये नव बाड विशुद्ध ब्रह्मचर्य पाले) ऐसे ३६ गुणों के धारक गुरु महाराज होते हैं।

ऐसे गुण युक्त गुरू महाराज को तीन प्रकार से वंदना–नमस्कार करते हैं:—

(१) जघन्य वंदना–मुख को ढके हुए वस्त्र का उत्तरासन कर, दोनों हाथ कोहनी तक जोड़ कर, गुरू महाराज के सन्मुख अवस्थित होकर, आवर्तन करता हुआ (जैसे अन्य मती आरती को घुमाते हैं तैसे जोड़े

हुये दोनों हाथों को घुमाता हुआ) नीचा नमकर कहे कि 'मत्थयेण वंदामि सुख साता है पूज्य, इत्यादि शब्दों से गुणानुवाद करे सो जघन्य वंदना।

(२) मध्यम वंदना—ऊपर कही हुई विधि के अनुसार तिखुत्तो के पाठ से वंदना करे। 'तिखुत्तो' जोड़े हुये दोनों हाथ मस्तक और दोनों घुटने ये पांच ही अंग तीन वक्त उठ बैठ कर ज़मीन के लगावे। 'आयाहिण' दोनों हाथ जोडे हुये 'पयाहिणं' प्रदक्षिणावत् हाथों को फिरा कर 'वंदामि' गुणानुवाद युक्त 'नमंसामि' नमस्कार करे। 'सक्कारेमि' सत्कार देवे, 'सम्माणेमि' सम्मान देवे 'कल्लाण' (ऐसा मनमें पका समझे कि) ये ही मेरी आत्मा के कल्याण के कर्ता हैं 'मंगल' परम मंगल (पाप का नाश) के कर्ता ये ही हैं 'देवय' धर्म देव यही हैं, 'चेइय' ज्ञानादि गुणों के सागर ये ही हैं। 'पज्जुवासामि' पर्युपासना यानी सेवा भक्ति करने योग्य ये ही हैं। ऐसे उत्कृष्ट भाव से 'मत्थयेण वंदामि' मस्तक झुकाकर गुणानुवाद युक्त जो नमस्कार करे, सो मध्यम वंदना।

(३) अब रही उत्कृष्ट वंदना सो उसका विस्तार युक्त वर्णन आगे के बारहवें प्रकरण के तीसरे वंदना नामक आवश्यक में देखिये।

इस तरह वंदना करने से जीवों को बड़े बड़े छः गुणों की प्राप्ति होती है:—

१ 'विनयोपचार' विनय का आराधक पणा २ 'मानभग' मिथ्याभिमान नामक महा शत्रुका नाश ३ 'पूज्य भक्ति' पूज्य पुरुषों की भक्ति का महालाभ ४ 'जिनाज्ञाराधन' जिनेश्वर भगवंत की अनुज्ञा का पालन ५ 'धर्म वृद्धि' गुरु की कृपा से सूत्र धर्म और चारित्र धर्म की वृद्धि ६ 'अक्रिय' इस भांति धर्म की आराधना से सकल कर्म का नाश होकर जो पाप रहित। सिद्ध रूप परम पद है उसकी प्राप्ति।

परन्तु वंदना के बत्तीस दोषों को टाल कर जो वंदना करते हैं उनको ही इत्यादि गुणों की प्राप्ति होती है। वे बत्तीस दोष ये हैं—

वंदना के बत्तीस दोष

१ 'अणाढिय दोष' वंदना करने से जो कर्मोंकी निर्जरा रूप फल

होता है उसे नहीं जानता, किंतु अपने कुल परंपरा से ये अपने गुरू हैं इसलिये वंदना करनी ही चाहिये इत्यादि विचार से आदरभावरहित होकर वंदना करे तो दोष लगे २ 'स्तब्धदोष'-यह दोष दो प्रकार से लगता है। एक तो शरीर में शूल आदि रोगों की पीडा से दुःखित हुआ वंदना करते समय प्रफुल्लित चित्त न होवें, सो द्रव्यस्तब्ध दोष। और दूसरा स्वाभाविक ही शून्यता से हुल्लास भाव नहीं आवे सो भाव स्तब्धदोष ३ 'परविध दोष'-जैसे मजूर को मजूरी देकर कोई काम करावे और वह जैसे तैसा करके चला जावे, ऐसेही विचार से यथा विधि वंदना नहीं करे सो परविध दोष ४ 'सपिण्ड दोष'—आचार्यजी, उपाध्यायजी और साधूजी सबको मिली हुई एकही बार वंदना करे—अलग अलग नहीं करे सो सपिंड दोष ५ 'टोल दोष' वंदना करते समय शरीर को एक ठिकाने स्थिर नहीं रक्खे, तीड पक्षी की तरह हिलता हुआ वंदना करे तो दोष ६ 'अंकुशदोष'-जैसे हाथी अंकुश के डर से महावत की इच्छानुसार चले तैसे ही गुरूजी के कोप के डर से वंदना करे, किन्तु स्वेच्छा से नहीं करे तो दोष ७ 'कच्छप दोष'—काछवे की तरह चारोंही तरफ देखता जाय और वंदना करता जाय तो दोष ८ 'मच्छ दोष'-जैसे मच्छी पाणी के आश्रय से रहे वैसे किसी भी प्रकार के आश्रय के लिये वंदना करे तो दोष ९ 'मनः प्रदुष्ट दोष'-अपने मन के मुताविक गुरूजी ने कार्य नहीं किया, इसलिये मन में द्वेष भाव रख कर वंदना करेतो दोष १० 'वंदीका वंदन-दोष'-दोनों हाथ घुटनों पर रख कर वंदना करे—दोनों हाथों के बीच दोनों घुटने रख कर वंदना करे—दोनों हाथों के बीच एक घुटना रख-कर वंदना करे—खोले में एक हाथ रख कर वंदना करे—दोनों हाथ खोले में रखकर वंदना करे—तो दोष। ११ 'भयदोष' संसार में अपयश होजाने के डर से या गुरू महाराज के कोप के डर से वंदना करे तो दोष १२ 'भंजन दोष'-और सब लोगों ने वंदना करी तो मुझे भी करनी चाहिये, इस विचार से वंदना करेतो दोष १३ 'मित्र दोष'-गुरू महाराज के साथ मित्रता करने के लिये वंदे अर्थात्—पूज्य बुद्धि न रक्खे तो दोष १४ 'गारवदोष'-मैं यथा विधि वंदना करूंगा तो लोग मुझे पंडित एवं

विनीत कहेंगे, इत्यादि अभिमानभाव से वंदे तो दोष१५ 'कारण दोष' गुरू-महाराज को यथा विधि वंदना करूंगा तो गुरू महाराज मुझे इच्छित वस्तु देवेंगे १६ 'स्तैन्य दोष' लोग देखेंगे तो मुझे छोटा समझेंगे, इस लिये कोई देखे नहीं इस तरह छिपकर वंदना करेतो दोष१७ 'प्रत्यनीक दोष'-गुरू महाराज स्वाध्याय या आहार वगैरह अन्य कार्य में लगे होवें उस समय उनको डिगाने के लिये वैर भावसे वंदना करे तो दोष १८ 'रुष्ट दोष'-क्रोध में स्वयं रुष्ट होकर तथा गुरुजी को रुष्ट करके वंदे तो दोष १९ 'तर्जित दोष' तर्जनी (अंगुष्ठ के पास की) अंगुली से गुरूजी को बताकर कहे कि ये किस कामके हैं—कुछ देते तो हैं ही नहीं—यों ही व्यर्थ वंदना करनी पड़ती है—ऐसा कहे या विचारे तो दोष २० 'शठ दोष'—मूर्ख की तरह गुण अवगुण कुछ नहीं समझे, केवल अन्य की देखा देखी दंडवत् वगैरह करे तो दोष २१ 'हीलना दोष'-वस्तुतः तुम वंदना के योग्य तो नहीं हो, परन्तु तुम्हारी इज्जत रखने के लिये वंदना करता हूं, इत्यादि गुरुजी से निंदाके वचन कहे तो दोष २२ 'कुंचित दोष'-बातें भी करता जाय और वंदना भी करता जाय तो दोष २३ 'अंतरित दोष'-बहुत दूरसे जाने नहीं जाने जैसे वंदना करलेवे तो दोष २४ 'व्यंग दोष'-सन्मुख रहकर वंदना नहीं करे, किन्तु आजू बाजू रहकर करे तो दोष २५ 'कर दोष'-जैसे राजाजी का हाँसल दिये बिना छुटकारा नहीं, त्यों गुरूजी को वंदना किये बिना भी छुटकारा नहीं होने का, इत्यादि विचार से वंदे तो दोष २६ 'मोचन-दोष'-चलो वंदना कर आवें, पाप काट आवें, फिर सारे दिन के लिये निश्चिंत रहेंगे—इत्यादि विचार से वंदे तो दोष २७ 'आश्लिष्ट दोष'-वंदना करते समय अपना मस्तक एवं हाथ गुरू के चरणों को नहीं लगाता हुवा, केवल ऊंटकी तरह गरदन झुका कर चला जावे तो दोष २८ 'न्यून दोष'-वंदना करते समय पूरा पाठ नहीं पढे, पूरी विधि नहीं साधे, जलदी जलदी कर डाले तो दोष २९ 'चुलीका दोष'-वंदना का पाठ बहुत जोर से हांक मार मार कर उच्चारण करे तो दोष ३० 'मूक दोष'-कुछ भी बोले बिना चुप चाप वंदना करे तो दोष ३१ 'ढटर दोष'-लकड़ के ठूंठ जैसा दंडायमान खड़ा रहकर, फक्त मुखसे शब्दोच्चारण करे तो दोष ३२

'आंवली दोष'-बड़े छोटे को अनुक्रम से वंदना नहीं करे। सब साधुओं को वंदना नहीं करे। अपने स्नेही मुनि को अधिक वंदे और दूसरों को थोड़ा वंदे। कभी वंदना करे कभी नहीं करे। किसी को यथा विधि करे, किसी को विना विधि करे। इत्यादि रूप से वंदना करे सो आवली दोष। ये बत्तीस दोष टाल कर तथा हर्ष हुल्लास भाव से युक्त होकर कि–मेरे अहो भाग्य हैं कि मुझे ऐसे सद्गुरु मिले हैं-यह जोग बार बार नहीं मिलता है– मेरी असीम पुण्याई से यह कर्मों की निर्जरा करने का दुर्लभ अवसर प्राप्त हुआ है–इस समय लाभोपार्जन कर लिया सो मेरा है–यह महात्मा पुरुष तो सर्व जगत् के वंदनीय हैं–इनको किसी की वंदना की गर्ज नहीं है–जो इनको वंदना करते हैं वे अपने लाभ के वास्ते ही करते हैं–इत्यादि विचार से परमभक्तिभावपूर्वक यथा विधि त्रिकरण त्रियोग की विशुद्धि से वंदना करने से पूर्वोल्लिखित सात लाभों की प्राप्ति होती है।

पूर्वोक्त गुणों से युक्त गुरू महाराज की तेतीस अशातनाएँ, जो कि–ज्ञानादि गुणों की आच्छादन करने वाली होती है, उनका परित्याग करना चाहिये। समवायांगजी सूत्र के अनुसार वे अशातनाएँ इस प्रकार हैं–

गुरुजी की ३३ अशातना

१–गुरु महाराज के आगे चले नहीं २ बराबर चले नहीं ३ पीछे अड़कर चले नहीं ४ आगे खड़ा रहे नहीं ५ बराबर खड़ारहे नहीं ६ पीछे अड़कर खड़ा रहे नहीं ७ आगे बैठे नहीं ८ बराबर बैठे नहीं ९ पीछे अड़कर बैठे नहीं १० गुरू महाराज के पहिले शुचि करे नहीं ११ गुरू महाराज के पहिले ईर्यावही (आवागमन के पाप से निवृत्त होने का पाठ) पड़िकमे नहीं १२ कोई भी दर्शन आदि कार्य के लिये आवे तो गुरू महाराज के पहिले आप उसे बुलावे नहीं १३ आप सोता हो और गुरुजी बुलावें तो सुनते ही तुरन्त उठकर उनके प्रश्न का उत्तर नम्रता से देवे १४ किसी कार्यार्थ कहीं जाकर पीछा आया, उसके मध्य में जो कुछ हुआ हो सो सब निष्कपटता से गुरुजी के आगे प्रकाश दे १६ आहार वस्त्र पुस्तक आदि कोई भी बस्तु किसी के पास से ग्रहण करनी हो तो पहिले गुरुजी को बताकर फिर ग्रहण करे १६ कोई भी

वस्तु दूसरे के पास से ग्रहण करके पहिले गुरुजी को आमंत्रित करे कि इसे आप ग्रहण करके मुझे कृतार्थ कीजिये ! यदि गुरूजी उस वस्तु को स्वीकार करें तो आप बहुत खुश होवे १७ यदि गुरु महाराज उस वस्तु को ग्रहण नहीं करेंतो गुरुजी की आज्ञा से वहां विराजते हुए अपने स्वधर्मियों को आमंत्रण करे कि हे महानुभाव ! मेरे पर अनुग्रह करके इस वस्तु को ग्रहण करो ! यदि कोई भी ग्रहण नहीं करे तो फिर आप गुरुजी की आज्ञा से उस वस्तु को भोगवे १८ गुरु और शिष्य एक ही मंडल पर आहार करने बैठे होवें तो सरस एवं मनोज्ञ आहार गुरुजी के भोगने में आये ऐसा करे १९ गुरूजी जो आदेश (हुक्म) फरमावें उसे सुना अनसुना नहीं करे, परन्तु बहुत ही आदर भाव से ग्रहण करे २० गुरुजी की आज्ञा सुनते ही तुरन्त आसन छोड़ कर–खड़ा होकर–हाथ जोड़कर उत्तर देवे, २१ गुरुजी के साथ वार्ता लाप करते समय 'जी ! तहेत ! प्रमान !' आदि उच्च शब्दों के साथ बचन सुने एवं प्रत्युत्तर देवे २२ अरे तू क्या कहता है, इत्यादि हलके शब्दों से नहीं बोले २३ गुरु महाराज कृपा करके जो जो हित शिक्षा देवें, उसे आप बहुत ही उत्सुकता से ग्रहण करे और तदनुसार वर्ताव करने की इच्छा प्रदर्शित करे। तथैव यथा शक्ति वर्ताव भी करे २४ गुरुजी फरमावें कि वृद्ध ज्ञानी रोगी तपस्वी नवदीक्षित–इनकी वैयावच्च (सेवा–भक्ति) करो तथा अमुक कार्य करो तो तुरन्त अपना सब काम छोड़ कर गुरुजी कहें सो करे। परन्तु यों नहीं कहेकि सब काम मै अकेला ही करता रहूँ क्या ? कुछ तुम भी करो ! २५ छद्मस्थता के कारण व्याख्यान आदि किसी भी कार्य में गुरु महाराज भूल गये हों तो शिष्य गुरुजी की भूल प्रगट करे नहीं। यदि पूछें तो, अतिसंमान पूर्वक वचनों से नम्रता के साथ यथातथ्य बात कहे २६ गुरुजी खुशी से आज्ञा देवें तो आप गुरुओं का उपकार दर्शाता हुआ उत्तर देवें। २७ गुरुजी की महिमा सुनकर आप नाराज न हो, प्रत्युत विशेष खुशी होवे २८ साधु–साध्वी–श्रावक–श्राविका में भेद नहीं करे कि ये मेरे हैं और ये गुरुजी के हैं २९ गुरुजी महाराज को धर्मोपदेश तथा संवाद करते हुये अधिक समय होजाय एव गोचरी आदि

का काल उल्लंघता हो तो भी आप यों नहीं कहे कि अब कहां लग घसीटोगे। अमुक काम का भी कुछ ध्यान है? भाव यह है कि किसी भांति की अंत्तराय नहीं देवे ३० गुरु महाराज के वस्त्र, पात्र, विछोना आदि उपकरण को अपने पैर आदि अंग नहीं लगावे। यदि कदाचित् भूल से लग जाय तो उसही वक्त गुरु महाराज को वंदना करके अपराध की क्षमा याचना करे ३१ गुरुजी ने व्याख्यान में जो अधिकार फरमाया हो उसी परिषदा में उसी अधिकार को आप विशेष विस्तार के साथ अपनी प्रशंसा के निमित्त पीछा नहीं कहे ३२ गुरुजी के वस्त्र पात्र प्रमुख उपकरण अपने काम में नहीं लेवे, यदि कभी ऐसा ही प्र-योजन पडजाय कि वापरे विना काम नहीं चले, तो गुरू महाराज की आज्ञा लेकर यत्ना सहित वापरे ३३ गुरूजी से सदा नीचा रहे। द्रव्य से तो आसन नीचा रक्खे, हाथ जोड़ ऊंचे बचनों से वार्तालाप करे, आज्ञा प्रमाणे काम करे। और भाव से निरभिमान, निष्कपटा, नम्रता, दासानुदास वृत्ति से सदा रहे और गुरु महाराज का सदा भला चाहवे। इन तेतीस अशातनाओं को टालने के लिये जो जो गुण ऊपर बताये गये हैं, तदनुसार प्रवृत्ति करके सदा गुरू भक्ति करने वाले जीव, परमात्म मार्ग में प्रवर्तने वाले होते हैं।

अशातना का फल

दशवैकालिक सूत्र में फरमाया है कि—जो कोई मूर्ख जाज्वल्यमान अग्नि को पांव से दबाकर बुझाना चाहता है, उसके पांव जरूर ही जलते हैं। जो दृष्टि मात्र से अन्य को जला डाल ने वाले दृष्टि विष सर्प को कोपाय मान करके सुख चाहता है, वह अवश्यही मरता है। जो हलाहल विष (जहर) खाकर अमरत्व चाहता है, वह अवश्य ही मरता है। जो मस्तक की टक्कर से पहाड़ को फोड़ना चाहता है उसका मस्तक अवश्य ही फूटता है। जो कोई मुष्टि प्रहार से भाला या बरछी नामक शस्त्र की धार को तोड़ना चाहता है उसका हाथ अवश्य ही कटता है। यद्यपि इत्यादि कार्य प्रत्यक्षतः अहितकर हैं फिर भी मंत्र प्रयोग से या पूर्व

पुण्याई के जोग से सुख दाता भी होजावें, परन्तु गुरु महाराज की अशातना करके कोई किसी भी तरहका सुख चाहवे तो यह कदापि नहीं होने का, और दुःख तो जरूर ही होगा ! गुरूजी की अशातना करने से ज्ञान आदि सर्व गुणों का नाश होता है, और 'गुरु हीलणाए नयावि मोखो' अर्थात् गुरु महाराज के निंदक को मोक्ष त्रिकाल में कदापि नहीं मिलती है।

गुरु भक्ति की विधि

जैसे अग्नि होत्री ब्राह्मण अग्नि की घृत, मधु आदि अनेक द्रव्यों से और अनेक मंत्रों से सभक्ति भाव पूजा करता है, तैसे ही श्री केवल ज्ञानी भगवंत भी आसेवणा (ज्ञानकी) और ग्रहण (आचारकी) की हित शिक्षा देने वाले गुरू महाराज का मनसे सदा भला चाहते हैं, वचन से सदा गुणानुवाद करते हैं, और काया से खड़े होना, संमुख जाना, आसन बिछाना, आहार पाणी वस्त्र औषधी आदि जो चाहिये सो लादेना, और यावत पंचांग से नम्रीभूत हो नमस्कार करना*—इत्यादि यथा योग्य भक्ति भाव करते हैं, तो छद्मस्थ करे इसमें विशेषत्व ही क्या ? ऐसा जानकर परमात्म मार्ग में चलने वाले शिष्य को गुरु महाराज की अहर्निश विनय भक्ति करनी चाहिये। श्री सूयगडांगजी सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध के सप्तम अध्याय में कहा है—

भगवंचणं उदाहु आउसंतो उदगा ? जे खलु तहा
भूतस्स समणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं
सुवयण सोच्चा निसम्म अप्पणो चेव सुहम्माए
पडिलेहीए अणुत्तर जोग खेम पयं लंभिए समाणे
सेवितावतं अढाइ परिजाणेंति वदति नमसंति सक्कारेइ
जाव कल्लाण मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासति

—सूत्र पाठ ३७ वाँ

अर्थ—श्री गौतम स्वामी भगवंत, उदक पेढाल पुत्र श्रावक से

---

* केवली भगवत गुरूको नमस्कार करने जाते हैं, परन्तु गुरू करने नहीं देते हैं।

कहते हैं कि—अहो आयुष्मान् उदक ! निश्चय कर के समण-साधू जी के पास से और माहण-श्रावक के पास से धर्मसम्बन्धी एवं शास्त्रसम्बन्धी केवल एक ही अक्षर तथा पद श्रवण कर—हृदय में धारण कर—अपनी सूक्ष्म बुद्धि से अलोचन यानी विचार कर—मन में समझे कि इन महात्मा के सद्बोध से मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है, जिस ज्ञान के प्रशाद से मैं परम कल्याण क्षेम कुशल रूप जो मोक्ष पद है, उसको प्राप्त करने के प्रति प्रवृत्त हुआ हूँ। उन एकही अक्षर के दातार गुरू महाराज का आदर सत्कार करे, उन्हें पूजनीक जाने, उनके साथ हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता से वार्ता लाप करे, मस्तक नमाकर नमस्कार करे, यावत् आप कल्याण के करता हो-मंगल के कर्ता हो-धर्म देव हो-ज्ञानवंत हो-इत्यादि उपमाओं से स्तुति करे, और यथा शक्ति यथा योग्य पर्युपासना सेवा भक्ति करे।

जैन ही नहीं, अन्यमत के शास्त्रों में भी गुरु महाराज की ऐसी ही प्रशंसा वर्णन की गई है। गुरू महाराज के भक्तों को गुरू की ज्ञान संयम और लौकिक शुद्धता तो अवश्य देखनीः परन्तु ये मेरे से वय में छोटे हैं—या कम पढे हुए हैं—या क्षमादि गुणों में न्यून हैं—इत्यादि बातों की ओर लक्ष्य लगाने की कुछ भी जरूरत नहीं। * अपने को तो उनके उपकार की तरफ ही एक मात्र लक्ष रखने की जरूरत है। गुरू महाराज के तुल्य उपकार का कर्ता इस विश्वमें दूसरा कोई भी नहीं है। माता, पिता, कलाचार्य, सेठ, भाई, कुटंब, चन्द्र, सूर्य, इन्द्र—आदि सब से अधिक उपकार के कर्ता गुरु महाराज ही हैं; क्योंकि दूसरे जो कुछ उपकार करते हैं उनके मन में सेवा भक्ति का, धन-वस्त्र-आहार आदि की प्राप्ति का कुछ न कुछ मतलब रहा हुआ होता है। इनकी तरफ से जो कुछ भी सुख प्राप्त होगा वह अपनी पुण्याई के अनुसार ही होगा, अधिक सुख देनेमें ये जराभी समर्थ नही हैं। तथा जो अपनी पुण्याई के अनुसार

* साधु-साध्वी—श्रावक-श्राविका-इन चारो तीर्थो ने जिनको गुरु पद पर एव आचार्य पद पर स्थापित कर दिये, वे वय तथा बुद्धि से कम भी होवें तो भी चारो तीर्थ को उनके हुकम मे ही चलना चाहिये।

भी अपने को सुख देते हैं, वह भी फक्त इसही लोक संबन्धी देते हैं, परन्तु आगे के जन्म में सुखी करने को समर्थ नहीं हैं। और गुरु महाराज तो बिना मतलब मात्र जीवों के उद्धारार्थ आहार वस्त्र पात्र आदि की माता उपजाकर, पुस्तक लेखनी आदि ज्ञान साधनों का संयोग मिलाकर, यथोचित रीति से ज्ञान दर्शन चारित्र रूप दान देते हैं कि जिसके प्रशाद से अज्ञानी पशु तुल्य शिष्य भी पण्डित पद को प्राप्त होते हैं बड़े बड़े इन्द्र नरेन्द्र राजा सेठ आदि के पूज्य होते हैं। इतना ही नहीं, सर्व प्रकार से सुख समाधि के साथ आयुष्य पूर्ण कर स्वर्ग तथा मुक्ति सुख के अधिकारी बना देते हैं। इसीलिये कविराज पूज्य पाद श्री तिलोक ऋषिजी महाराज ने फरमाया है कि—

मनहर छंद

गुरू मित्र गुरू मात, गुरू सगा गुरू तात,
गुरू भूप गुरू भ्रात, गुरू हित कारी है।
गुरू रवि गुरू चन्द्र, गुरू पति गुरू इन्द्र,
गुरू देत आनन्द, गुरू पद भारी है॥
गुरू देत ज्ञान ध्यान, गुरू देत दान मान,
गुरू देत मोक्ष स्थान, सदा उपकारी है।
कहत हैं तिलोक रिख, हित कारी देत सीख,
पल पल गुरूजी को, वंदना हमारी है॥

अर्थात्—संकट के समय में मित्र के समान सहायता के कर्ता, माता के समान ज्ञानादि से पोषण के कर्ता, सगे-सम्बन्धी के समान मदत के कर्ता, पिता के समान विद्याधन के दाता, राजा के समान अन्याय से बचाने वाले, भाई के समान सहायता के कर्ता, सूर्य के समान प्रकाश के कर्ता, चन्द्र के समान शीतलता के कर्ता, पति के समान शोभा के कर्ता, इन्द्र के समान आधार भूत, सर्व जीवों को एकान्त आनन्द के दाता श्री गुरु देवजी महाराज ही हैं। बल्कि इन से भी अधिक उपकार के कर्ता हैं। ये तो फक्त उपमा वाचक शब्द हैं; क्योंकि ज्ञान रूप उत्कृष्ट दान

देते हैं, कि जिस ज्ञान के प्रभाव से सामान्य मनुष्य भी संपूर्ण जगत में माननीय हो जाता है, और आगे को शिव अनंत अक्षय सुख के स्थान मोक्षकी प्राप्ति करता है। ऐसे महा उपकार के कर्ता और कौन हैं? अर्थात्—कोई भी नहीं!

श्री गुरुदेव ने शिष्यों को सुधारने की अलौकिक एवं अनूठी युक्तियों की योजना की है। उन युक्तियों में की कितनीक युक्तियां उपरोक्त महात्माने बताई हैं, सो यहाँ कहते हैं:—

मनहर छन्द

जैसे कपड़ा को थान, दरजी वेंतत आन,
खंड खड करे जान, देत सो सुधारी है।
काष्ठ को ज्यों सूत्र धार, हेम को कसे सुनार,
मृत्तिका को कुभकार, पात्र करे त्यारी है।
धरती को ज्यों कृषान, लोह को लुहार जान,
सिल्लावट सिल्ला आन, घाट घड़े भारी है।
कहते हैं तिलोक ऋषि, सुधारे यों गुरू शिष्य,
गुरू उपकारी नित्य, लीजे वलिहारी है॥

अर्थात्—जैसे दरजी, सुतार, सुनार, कुंभार, लुहार, कृपिकार, और शिलावट आदि शिल्पी लोग वस्त्र, काष्ठ, सुवर्ण, मिट्टी, लोहा, पृथिवी और सिला को प्रथम तो फाड़ तोड़ कर टुकड़े टुकड़े कर देते हैं—एक प्रकार से बिगाड़ ही डालते हैं और फिर उन्हीं को जोड़ सांध कर मनोहर सर्व मान्य वस्तु बना देते है, कि जो अनेकगुणी कीमत पाने लगजाती हैं। अजी देखिये तो ठोकरों में ठुकराते हुये पत्थर को घड़कर देव मूर्ति बना देते है, जो लाखों भोलेभाइयों के मन को भरमाने वाली हो जाती है और उसका नित्यप्रति वंदन पूजन होने लगता है। लाला रणजीतसिंह जी ने कहा है कि—

—गुरू कारीगर सारीखा, टांची वचन विचार।
पत्थर से प्रतिमा करे, पूजा लहे अपार॥

इसी प्रकार गुरू महाराज, अनघड़ टोल जैसे मनुष्य को वचन रूप टांची से घड़ कर सुधारा करने के लिये, बादाम फल के जैसी वृत्ति धारण करते हैं। बादाम ऊपरसे तो कठिन दीखता है, परन्तु अंदर से कोमल और मधुर होता है। तैसेही गुरू महाराज शिष्य को अनेक कटु वचनों से आयंबिल उपवास आदि तप कराते है तथा एकान्त वास, मौन वृत्ति, वगैरह धारण करने का अभ्यास कराते हैं। उस समय अल्पज्ञ शिष्य को गुरू की यह वृत्ति खराब लगती है, और कभी कभी घबराकर अमर्यादित विचार उच्चार तथा आचार भी करने लगता है। तब निकटस्थ दूसरे लोगों को मालूम पड़ने लगता है कि—यह तो बिगड़गया, परन्तु शिष्य की यह वृत्ति देखकर गुरुदेव बिलकुलही नहीं घबराते हैं; अपने कर्तव्य से जराभी पीछे नहीं हटते हैं। क्योंकि वे तो जानते हैं कि-बिगाड़े बादही सुधारा होता है और ज्ञानामृत रूप औषधी, शुद्ध आचार विचार रूप पथ्य पालन के साथ देतेही रहते हैं, जिससे वह थोड़ेही समय में जैसा कि नवीन जन्मा हुआ हो ऐसा बन जाता है। मूर्खसे—विद्वान, जड़से पण्डित, और अपूज्य से परम पूज्य बनकर जब वह लौकिकानन्द और आत्मानन्द में लीन बनता है, तब आंतरिक चक्षुओं के खुलने से गुरु महाराज के परम उपकार का हृदय में दिग्दर्शन करता हुआ आशीर्वादों का अजपा जाप लगादेता है, कि अहो गुरु दयाल! मेरे जैसे नर पशू को सच्चे नर पदपर स्थापन करने वाले, अन्धेको नेत्र देने वाले, भूले को मार्ग बताने वाले, ज्ञान बिजिया की मधुर घूटें पिलाकर अद्वैतानंद में रमण कराने वाले आपही हो। भला हो, गुरूमहाराज! आपका सदाही भला हो!!

ऐसे परम पूज्य गुरूजी स्थविर होते हैं तथा शिष्य को स्थविर पद में स्थापन करते हैं, और उन स्थविर भगवंत के गुणानुवाद करने से पहिले श्री गुरू महाराज को नव कोटि विशुद्ध नमस्कार करता हूं।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "गुरु गुणानुवाद" नामक चतुर्थ प्रकरण समाप्त।

प्रकरण—पांचवाँ

"स्थविर गुणानुवाद"

न महात्माओं की आत्मा ज्ञान आदि सद्‌गुणों में स्थिरीभूत होकर चिरस्थायी पद भोगती हो अथवा जो महात्मा अपने सद्‌गुण रूप चमत्कारी विद्या के जोर से अन्य अल्पज्ञ जीवों की अस्थिर, सद्‌गुणों से चलित तथा दुर्गुणों की तरफ़ जाने वाली आत्मा को आकर्षणकर यानी खेंच कर पुनः सद्‌गुणों में स्थापन कर निश्चल करें, उन महात्माओं को शास्त्र में स्थविर भगवंत कहा है।

ग्रंथकार उक्त स्थविरों के दो विभाग करते हैं:—लौकिक स्थविर और लोकोत्तर स्थविर।

१ लौकिक स्थविर—अर्थात् संसार मार्ग में प्रवृत्त हुये जीव, जब आधि (चिन्ता) व्याधि (रोग) उपाधि (दुःख) से व्याकुल होकर चल विचल बनें, तब उनको व्यवहार में स्थिर करनेवाले माता, पिता, गुरु, पति, स्वजन, मित्र, वगैरह वयोवृद्ध एवं गुणवृद्ध जन, लौकिक स्थविर कहलाते हैं। उनकी सेवा भक्ति करना सो लौकिक स्थविर भक्ति।

श्री ठाणांगजी सूत्र के तीसरे ठाणे में फ़रमाया है कि गुरु और

गुरुणी, माता और पिता, सेठ और सेठाणी—इनके उपकार से ऊरण होना मुश्किल है।

इस जगत् में माता का उपकार सबसे अधिक गिना जाता है। क्योंकि माता गर्भवास से लगाकर प्रसूति काल तक तथा जन्म लेने के पश्चात योग्य अवस्था को प्राप्त हो वहां तक, इतना ही नहीं समस्त जीवन तक, आप अनेक दुःख संकट सहन कर, अपने तन मन धन को लगा कर पुत्रकी परवरिश एवं सुख वृद्धि की तरफ ही लक्ष्य रखती है। ऐसी पुत्र माता का भक्तिवंत पुत्र समस्त आयु भर किंकर बना रहे, उसके कहने से पहिले ही अभिप्राय को समझ कर कार्य एवं वर्ताव करे, जो जो उसकी इच्छा हो सो यथा शक्ति पूर्ण करे, चरणपखाले, पगचंपी करे, देश काल प्रकृति के योग्य भोजन करावे, वस्त्र पहनावे इत्यादि सर्व कार्य उत्साह युक्त करे, और माता की तरफ से होनेवाले ताडन तर्जन कटुवाक्य आदि को हितकारी जान कर नम्र भाव से सहे, परन्तु कदापि कटु वाक्यादि किसी भी प्रकार से उसका मन नहीं दुःखावे—ऐसी भक्ति जीवन भर करे तो भी ऊरण नहीं होवे। परन्तु माता को धर्म मार्ग दर्शाकर, व्रत नियम धारण करा कर, आयुष्य के अंतमें आलोयणा निंदना करा कर, धर्म साता बंधाकर, परभव पहुंचावे तो ऊरण होवे।

ऐसे ही पिता भी उपकारी होते हैं, कि जो पुत्र को जन्म से लगा कर योग्य वय को प्राप्त हो वहां तक, औषध—उपचार—भोजन—वस्त्र आदि सामग्री का संयोग मिलाकर पोषते हैं। समय समय पर हितशिक्षा देते रहते हैं। और [illegible] वय प्राप्त होते ही कालाचार्य के पास गणित लिपि आदि [illegible] विद्याभ्यास कराते हैं तथा धर्म—ज्ञान भी [illegible]। यौवन वय में अनाचार से बचाने के लिये वय रूप और [illegible] [illegible] कन्या के साथ विवाह कराते हैं। अंत में अनेक कष्ट सहन कर [illegible] [illegible] भारी संपत्ति का मालिक बनाते हैं। [illegible] [illegible] माता की भक्ति के अनुसार पिता की भी भक्ति [illegible] जिन्दगी [illegible] करे, तो भी ऊरण नहीं होवे। परंतु माता [illegible] पिता को भी अंतिम समय में धर्म रूप साता बंधाकर समाधि

मरण करावे तो ऊरण होवे।

ऐसे ही कलाचार्य का भी उपकार अपार है। क्योंकि पशू के तुल्य अज्ञानी तथा सर्वदा क्रीड़ाप्रिय शिशुओं को भी अनेक योग्य युक्तियों से तथा इनाम आदि के लालच से तथा गरमी नरमी से, विद्याध्ययन के मार्ग पर लगाया और लिखित, गणित, आदि अनेक लौकिक विद्याओं का अभ्यास कराया। जिससे वे अपने शरीर का और कुटुम्ब आदि का पोषण कर सुख से आयुष्य व्यतीत कर सकें, ऐसा बना देते हैं। ऐसे कलाचार्य को वे विद्यार्थी भी वस्त्र भूषण आदि द्रव्य से वा सत्कार संमान सेवा भक्ति से संतोषें और जन्म भर उनका उपकार नहीं भूलें तो भी ऊरण न होवें। परंतु अन्य धर्मावलंबी होवें तो स्वयं को धर्म ज्ञान की समझ आये पीछे उन्हें स्वधर्मी बनावें और जो वे स्वधर्मी होवें तो आयुष्य के अंत में धर्म रूप भाता बंधावें तथा समाधि मरण करावे तो ऊरण होवें।

ऐसाही सेठजी का भी उपकार गिना जाता है। क्योंकि जिन्होंने भूखे भटके दुःखी दरिद्री प्राणी को द्रव्य वस्त्र आहार आदि अनेक सहायता द्वारा संतोष उपजाया, द्रव्योपार्जन करने की अनेकानेक कला कौशल एवं न्याय नीति सिखवाई, और अपने प्राण से प्यारे द्रव्य के भंडार को सिपुर्द कर उसे अपने जैसा जीवन भर के लिये सुखी बनादिया। परन्तु कर्म गति विचित्र है। इसके चक्र में आकर उक्त सेठजी कभी दीन हीन अवस्था को प्राप्त होजायँ तो उनको देखतेही वह कृतज्ञ गुमास्ता सब कार्य छोड़ कर उनके संमुख जाकर सुखशांतिप्रद वचनों से संतोषे तथा नम्रता के साथ अपने घर में लाकर कहे कि—यह सब धन संपत्ति एवं घरबार आपही का है। मै तो आपका ऋणी दास हूं। यह सब आप सँभालिये और दास लायक कुछ सेवा चाकरी फरमाइये। इत्यादि नम्र निवेदन करता हुआ सेठ जी को गृहस्वामी बनावे और आप गुमास्ता (चाकर) होकर रहे, तोभी ऊरण नहीं होवे। हां जो वे सेठ अन्य धर्मी होवें तो स्वधर्मी बनावे और अंतिम अवस्था में समाधि मरण करा कर धर्म रूप संबल (भाता) बँधावे तो ऊरण होवे

इस भाँति उपकार से ऊरण (अदा) होने की रीति श्री ठाणांगजी सूत्र में फरमाई है। इसके सिवाय और भी व्यावहारिक रीति एवं प्रवृत्ति से विचार कर देखें तो—

जेष्ट बन्धव तथा मित्र भी उपकारी कहे जाते हैं। क्योंकि वे भी आपत्ति आने पर तथा उत्सव आदि कार्य में यथा शक्ति हरेक तरह की सहायता करते हैं—अच्छी सलाह देकर धैर्य बन्धाते हैं—कार्यसाधने के सु-मार्ग से सूचित करते हैं—समय पर अपना तन धन अर्पण कर स्नेही का कार्य सुधारते हैं—इज्जत रखते हैं—तथा काम पड़े तो प्राण भी झोंक देते हैं। ऐसे स्वजन मित्र के उपकार के बदले में यदि कृतज्ञ मित्र, अपना सर्वस्व अर्पण करके उनका तावे उम्मर का दास भी बनजाय तो भी ऊरण नहीं हो; परन्तु अन्य धर्मी हो तो स्वधर्मी बनावे, एवं समाधि मरण कराकर अंतिम अवसर सुधारे तो ऊरण होवे।

इसी प्रकार स्त्री के प्रति पति भी बड़े उपकारी गिने जाते हैं, क्यों कि ये स्त्री के चंचल स्वभाव को स्थिर करने वाले होते हैं। योग्य और मधुर वचनों से बातचीत कर, साधु सतियों के दर्शन कराकर, धर्म ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा करते हैं तथा धर्म में लगाते हैं। क्यों कि धर्म की जानकार स्त्री, कुलीन लज्जा शील एवं विनीत होकर, कुटुम्ब को सुख दाई होती है। और भी पति ने आहार वस्त्र भूषण आदि उपभोग परिभोग की वस्तुएँ (जिससे लज्जा का निर्वाह हो, परन्तु उद्धत पणा मालूम नहीं पड़े ऐसे) देकर संतोषी है, और अकेली कहीं बाहर आने जाने से तथा अ-योग्य कार्य से रोक कर सदा घरके और धर्म के कार्यों में लगा रक्खी है, कि जिससे गृहणी का मन चंचल एवं कुमार्गी न होने पावे। ऐसे प्रिय पतिदेव का उपकार चुकानेके लिये उनकी मरण पर्यंत दासी बन कर स्नान मंजन वस्त्र भूषणादि से विभूषित करे—मनोज्ञ भोजन पान मधुरालाप भाव भक्ति आदि सेवा करके संतोषे—अपने पतिके पिता (ससुर) माता (सासु) भ्रात (जेठ—देवर—मित्र) बहिन (नणंद) वगैरह कुटुम्ब को भी आहार वस्त्रादि सामग्री से और लज्जा युक्त मधुरालाप से संतोपे तथा यथोचित यथा शक्ति गृह कार्य करे—और भरतार के कुटुम्ब की तरफ से होते हुये सर्व

परिसह–दुःख कटुवाक्य आदि समभाव (क्षमा) से सहे। इत्यादि पति भक्ति करे, तो भी ऊरण न होवे। परन्तु पति को धर्म मार्ग में लगाकर अंतिम अवसर में समाधि मरण करावे तो ऊरण होवे।

इन स्वजनों तथा मित्रों के सिवाय और कोई भी अपने से वय में विद्या में गुणों में अधिक होवें और उनके द्वारा अपने को सद्बोध आदि किसी भी सद्गुण की प्राप्ति होती हो तथा अपने कार्य में किसी भी प्रकार की मदद मिलती हो तो उनको भी व्यवहार पक्ष में स्थविर समझना चाहिये। मित्रता भी जगत् मे एक अत्युतम पदार्थ गिना जाता है, इस लिये मित्रता रखने वालों के साथ कृतज्ञ मित्र, अंतः करण की विशुद्धि से वर्ताव करे–योग्य ऊंचे मधुर वचनों से सत्कार करे–आहार वस्त्र आदि जो वस्तु उनको खपती हो देकर उन्हें संतोपे–हिल मिल कर रहे–परस्पर दूसरे के संकट के समय सहायता करे–यावत् जन्म पर्यंत उनका दास बना रहे तो भी ऊरण नहीं होता है, परन्तु सच्ची मित्रता तो यह है कि–अगर मित्र सत्य धर्म से नावाकिफ होवे तो उन्हें वाकिफ करे–सत् गुरूकी संगति करावे–व्याख्यानादि श्रवण का संयोग मिलाकर उनके अंतः करण में धर्म की रुचि जगावे–और यथा प्रसंग उनको सम्यक्त्वी व्रती भी बनावे और समाधि मरण करावे तो ऊरण होवे।

अपने कुटुम्ब में से या हर किसी को यदि वैराग्य प्राप्त होवे और वह संयम लेना चाहे तो आप आज्ञा देकर एवं धर्म दलाली कर उसके कुटुम्ब को समझा बुझाकर आज्ञा दिलावे। और उत्सव के साथ दीक्षा दिलावे तो कृष्ण महाराज व श्रेणिक राजा के समान तीर्थंकर गोत्र उपार्जे।

यह व्यावहारिक स्थविरों की भक्ति का वर्णन ग्रन्थानुसार किया है। उववाई जी सूत्र में फरमाया है कि माता पिता का भक्त, देव लोक में ६४००० वर्ष का आयुष्य पाता है। इससे जाना जाता है कि व्यावहारिक भक्ति भी पुण्य फल की उपार्जना करने वाली होती है। और इसी कारण श्री तीर्थंकर भगवान आदि जो उत्तम पुरुष हुए हैं, उन्होंने भी अपने स्थविरों का सन्मान एवं भक्ति की है–अर्थात् यथोचित व्यवहार का साधन किया है। यह तो सत्य समझिये कि जो व्यवहार सुधारेगा वही

निश्चय भी सुधारेगा, इस लिये व्यवहार नहीं बिगाड़ना चाहिये।

अब जो स्थानांग सूत्र में तीन प्रकार के स्थविर भगवंत फरमाये हैं, उनके विषय में कुछ विवेचन किया जाता है:- १ वय स्थविर, २ दीक्षा स्थविर ३ और सूत्र स्थविर।

(१) वय स्थविर। इस वर्तमान काल के अनुसार जिनकी ६० वर्ष के ऊपर वय होगई हो, उनको वय स्थविर कहते हैं। मनुष्य जन्म में सुखी प्राणी की जो ज्यादा उमर होती है, उसे पुण्यवंत गिनते हैं।

नंदीजी सूत्र में चार प्रकारकी बुद्धि कही है, उस में प्रणामिया बुद्धि चौथी कही है। उसका अर्थ है कि ज्यों ज्यों वय बढ़ती जाती है, त्यों त्यों कितनेक पुरुषों की बुद्धि भी अधिकाधिक विकसित होती जाती है। और यह प्रसंग भी बहुत स्थानोंमें दृष्टि गोचर होता है, क्योंकि उनको इस सृष्टि में जन्म धारण किये बहुत वर्ष होगये हैं। उन की दृष्टि के नीचे कितनी ही बातें गुजर गई हैं, उन्होंने कई तरह से सुख दुःख का अनुभव कर रक्खा है। इत्यादि कारणों से जिनकी आत्मा स्थिरीभूत होगई है, और जो प्राचीन ऐतिहासिक वार्ताएँ सुनाकर तथा अनेक चमत्कार बताकर दूसरे की आत्मा को स्थिर कर सकते हैं, इस लिये वे स्थविर कहे जाते हैं। और कितनेक स्थानों में इस से उलटा भी मालूम होता है, परन्तु उलटा प्रसंग देख कर अर्थात् वृद्ध अवस्था में बुद्धि की मंदता देख कर, उनका किसी भी तरह अपमान करना या 'साठी बुद्ध नाठी' वगैरह बचन कह कर उनका मन दुःखाना उचित नहीं है। क्योंकि नाक कितना ही उंचा हो परन्तु मस्तक के तो नीचे ही गिना जायगा, तैसे ही हम कितने ही बुद्धि के सागर हों तो भी जेष्ठ पुरुषों के तो नीचे ही रहेंगे। ऐसा जानकर वृद्ध पुरुषों की अवज्ञा कदापि नहीं करनी चाहिये। जो पुरुष वय में वृद्ध होवें और जाति दीक्षा आदि दरजे में कदापि कम भी होवें, उनका भी यथा योग्य विनय करना, यही उत्तम पुरुषों का कर्तव्य है। जो दीक्षामें बड़े होवें उनको तो गुरु तुल्य समझ कर पिछले प्रकरण में कहे अनुसार उनकी भक्ति करना और दीक्षा में समान या न्यून होवें तो उनको भी आइये विराजिये आदि आदर वचनों से संलाप करना और उनकी प्रकृति

को सानुकुल (अच्छा) लगे ऐसा सरस–स्निग्ध–उष्ण–आहार, अथवा उन आदि के वस्त्र, साता कारी स्थान, पराल आदि योग्य एवं कोमल विछोने पर शयन कराना, हाथ पैर पीठ आदि का दावना, वस्त्रादि उपधि का प्रतिलेखन करना, अन्य भी परिठावणिया आदि जो कार्य होवें करना, कारणिक शरीर होवे तो औषध पथ्य आदि का संयोग मिला देना, इत्यादि वैयाव्रत्य करके, उनको साता उपजाना, सो भी परमात्मपद का मार्ग है।

(२) दीक्षा स्थविर। जिनकी वीस वर्ष के ऊपर दीक्षा हो, वे दीक्षा स्थविर कहे जाते हैं। क्योंकि उनको बहुत वर्ष संयम पालते होगये हैं, जिससे उनकी आत्मा संयम में स्थिरी भूत होगई है, और अनेक देशों में पर्यटन करके अनेक गुणज्ञ विद्वानों की संगति के द्वारा आसेवना (ज्ञानकी) ग्रहण (आचारकी) शिक्षा की अनेक युक्तियों के जानकार हैं। अतएव वे अन्य धर्मात्माओं की धर्म मार्ग से चलित हुई आत्मा को, सद्बोध आदि प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाणों से पुनः स्थिर कर सकते हैं। इत्यादि गुणों से स्थविर कहे जाते हैं। इन दीक्षा स्थविरों में कितनेक ज्ञानावरणी कर्म की प्रबलता तथा हीनता से कितनेक ज्ञानादि गुण प्राप्त कर सकते हैं और कितनेक नहीं भी कर सकते हैं। जिनको विशेष ज्ञानादि गुणकी प्राप्ति नहीं हुई है और जो फक्त आठ प्रवचन माता (५ समिति ३ गुप्ति) के ही जानकार होकर उतने ही ज्ञान के जोर से तप संयम में अपनी आत्मा को रमाते हुए विचरते हैं, उन्हें अधिक ज्ञानी को तथा अन्य चार ही तीर्थो को किसी प्रकार से अपमानित करना तथा हीन समझना उचित नहीं है। तैसे ही कितनेक लघुवय में दीक्षा धारण करने से तरुणपने में ही स्थविर पद को प्राप्त होजाते हैं, तो उनको भी स्थविर ही समझना चाहिये। परन्तु अधिक वय वंत को उनका किसी भी तरह अपमान करना उचित नहीं है। जो दीक्षा में एक समय मात्र भी अधिक होवें तो उनका व्यवहार भी पिछले प्रकरण में कहे मुजब गुरूकी तरह ही साधना चाहिये। और जो दीक्षा में तथा ज्ञानादि गुणों में समान एवं न्यून होवें तो उनके साथ भी आदर सूचक बचनों से वार्ता लाप करना चाहिये और आहार वस्त्र आदि से वैयाव्रत्य करके साता उपजानी चाहिये। यह दीक्षा स्थ-

दिर की भक्ति भी परमात्मा का मार्ग है।

(३) सूत्र स्थविर। भगवंत की फरमाइ हुई उस वाणी को सूत्र कहते हैं जो गणधर महाराजने द्वादशांग में विभक्त की है। इसका विस्तार युक्त वर्णन तीसरे प्रकरण में किया जा चुका है। उसमें का जो अवशिष्ट भाग आज उपलब्ध है वह देखने में तो थोड़ा मालूम होता है, परन्तु तात्विक ज्ञानमय गहन अर्थों से भरा हुआ है। बिना गीतार्थों के उनके अर्थों का समझ में आना, बुद्धिगम्य होना और अनेकानेक युक्तियों के साथ दूसरों के हृदय में प्रगमाना, बहुत ही कठिन है। जिनके पूर्व संचित ज्ञानावरणी कर्म पतले होगये हैं और जिन्हें गीतार्थ पण्डित मुनिवरों का संयोग मिला है, उनको यथोचित विनय भक्ति के द्वारा प्रसन्न कर के तथा चोयणा प्रतिचोयणा कर के जो शास्त्रों के गूढार्थ के जानकार हुये हैं वे सूत्र स्थविर कहे जाते हैं। क्योंकि स्थिरात्मा हुये विना शास्त्र का गहन अर्थ आत्मा में पैठता नहीं है—जैसे हिलते हुए पाणी में सूर्य का प्रतिबिंब स्थिर नहीं रहता है। इसलिये सूत्र का गहन ज्ञान जिनकी आत्मा में टिका है—और जिनकी आत्मा स्थिर हुई है, वे स्थविर कहे जाते हैं।

ऐसे सूत्रों के गहन ज्ञान के पारगामी महात्मा, जब ज्ञान दान की बकसीस करने के लिये अर्थात् धर्मोपदेश करने के लिये तात्विक ज्ञान रूप सुधारस से भरपूर विद्या विनोद उपजाने वाली एवं अनेक तर्क वितर्क आपही उत्पन्न करके आपही उनका समाधान करने वाली देशना फरमाते हैं, उसवक्त ज्ञान के रसीले श्रोताओं की आत्मा धर्म में स्थिरीभूत होजाती है। यही नहीं, बहुत काल जाव जीव तक तथा अन्य जन्मों में भी, वे फिर किसी के चलाने से एवं कर्मों की विचित्रता के प्रेरे हुए कदापि धर्म से चलाय मान नहीं होते हैं, और अंततः वक्ता श्रोता दोनों ही मोक्ष स्थान मे अनंत काल के लिये स्थिरात्मा बन जाते हैं। इसलिये सूत्रों के गहन अर्थ के जानने वाले स्थविर भगवंत कहे जाते हैं।

ये स्थविर भगवंत यदि दीक्षा में अधिक होवेंतो गुरू महाराजकी तरह इन की भी सेवा भक्ति करनी, एवं असातना टालनी चाहिये। और जो दीक्षा में

समान तथा छोटे होवें तो भी उनको बड़े के समान ही समझे और उन के ज्ञान आदि गुणों की वृद्धि होने योग्य स्थानक, आहार, वस्त्र, पात्र, औषध, ज्ञान के भंडार शास्त्र, ग्रन्थ, पत्र, स्याही, लेखन वगैरह सब सुख-दाई संयोग मिला दे। तथा उन को ज्ञान वृद्धि के काम के सिवाय अन्य काम न बतावे, क्योंकि अन्य काम में उनका समय व्यय नहीं होगा तो वे ज्ञान वृद्धि के ग्रन्थ आदि रचने के कार्य में लग कर अपनी आत्मा को तथा अन्य अनेकों की आत्मा को धर्म मार्ग में स्थिर कर महान् उपकार करेंगे, आप धर्म रूप महालाभोपार्जन कर सुखी होवेंगे और अनेकों को सुखी बनावेंगे। सूत्र स्थविर भगवंत का वर्णन, विशेष विस्तार के साथ बहु सूत्री के प्रकरण में देखिये। इस तरह जो सूत्र स्थविर की भक्ति है, वह परमात्मा का मार्ग है।

सूत्रानुसार तीनों स्थविरों के जो यह गुणानुवाद कर, त्रिकरण त्रियोग की शुद्धि से वारम्वार नमस्कार करता हूं, सो अवधारियेजी।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "स्थविर
गुणानुवाद" नामक पंचम प्रकरण समाप्त।
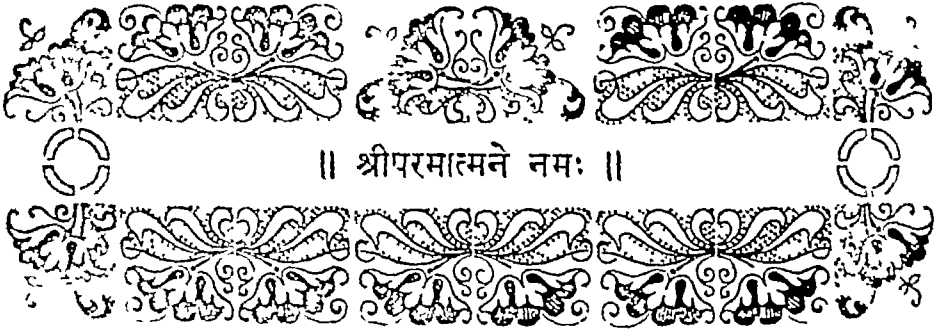
प्रकरण—छठा

"बहुसूत्रीगुणानुवाद"

जिन महा पुरुषों ने गुरु आदि गीतार्थों की तह मन से भक्ति कर के श्री जिनेश्वर प्रणीत तथा गणधर ग्रथित द्वादशांग रूप शास्त्रों का एवं आचार्य कृत अनेक तत्व-मय—अनेक भाषामय—अनेक ग्रन्थों का अभ्यास किया हो, और उन्हें ज्ञान के सागर जानकर उन के पास बहुत से ज्ञानार्थी आकर ज्ञानका अभ्यास करना चाहते हों, उनको यथोचित यथायोग्य ज्ञानका अभ्यास कराते हों—सूत्र आदि पढ़ाते हुये संशयों का छेदन करते हों, और चरण करणादि गुण सहित होते हों, उनको बहु सूत्री जी एवं उपाध्यायजी भगवंत कहते हैं।

द्वादशांग सूत्र और तत्सम्बन्धी सूत्रों का वर्णन तो तीसरे प्रवचन गुणानुवाद नामक प्रकरण में किया है, उनमें से जिसकाल में जितने प्रव-चन मौजूद हों उनका पूर्ण रूप से स्वयं अभ्यास करे और उनका तत्वज्ञान चोड़ने में समर्थ तथा अन्य को समझावे, वह अपने अपने समय में बहुसूत्री कहा जाता है। समस्त सूत्र ग्रंथों में मुख्यतया सात प्रकार के समास हैं—

(१) ' विधि सूत्र ' जिसमें साधु श्रावक के आचार विचार का वर्णन हो सो विधि सूत्र । जैसे दशवैकालिक जी आचारांगजी आदि ।

(२) ' उद्यम सूत्र ' जिसके श्रवण पठन से जीवों को वैराग्य का उत्साह प्राप्त होकर वे अंतःकरण से धर्म मार्ग में उद्यमी बनें, तन तोड़ परिश्रम करें । जैसे उत्तराध्ययन जी, सुयगडांगजी आदि ।

(३) " वर्णक सूत्र " जिसमें नगर, पहाड़, नदी, क्षेत्र, द्वीप, समुद्र, स्वर्ग, नरक आदि वस्तुओं का वर्णन होवे, तथा ' रिद्धित्थीमीए ' आदि शब्दों से उपमाएँ दर्शाई होवें, वह वर्णक सूत्र है । जैसे उववाईजी जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति आदि ।

(४) ' भय सूत्र ' जिसके श्रवण से अंतरात्मा पापों से भयभीत हो ऐसा नरक तीर्यच आदि दुर्गतियों में परमाधामी आदि सम्बंधी पीड़ा का और कर्म विपाक के बोलों का वर्णन होवे वह भयसूत्र है । जैसे दुःख विपाकजी प्रश्न व्याकरण का आश्रव द्वार आदि ।

(५) ' उत्सर्ग सूत्र ' जिससे एकान्त निश्चय मार्ग में सर्वथा निर्दोष वृत्ति से प्रवर्तने का बोध होवे, वह उत्सर्ग सूत्र है । जैसे ३२ योग संग्रह १८ स्थानक आदि ।

(६) ' अपवाद सूत्र ' जिसमें द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की प्रतिकूलता के कारण से अथवा विकट उपसर्ग आदि संयम के नाश का प्रसंग उपस्थित होने से, अपने संयम व्रत की रक्षा के निमित्त यत्ना और पश्चाताप युक्त कोईक वक्त किंचित दोष का जान कर सेवन करले तो उसका यथा विधि प्रायश्चित लेकर शुद्ध होने का उपदेश होवे, वह अपवाद-सूत्र है । जैसे चार छेद सूत्र आदि ।

(७) ' तदुभय सूत्र ' जिसमें उत्सर्ग और अपवाद दोनों का मिश्रित वर्णन होवे वह तदुभय सूत्र है । जैसे रोग आदि असमाधि उत्पन्न होने पर यदि आर्त ध्यान की प्राप्ति न होती हो तो औषध उपचार करने की कुछ जरूरत नहीं, और यदि आर्त ध्यान–चिन्ता उत्पन्न होने लगे–ज्ञान ध्यान में विघ्न पड़ने लगे तो योग्य निर्वद्य उपचार के द्वारा दुःख निवारण करके शांत बनना । इत्यादि वर्णन आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कंध

जइ जिण मयं पवज्जह , तामा ववहारणिच्छयं मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ , तित्थ अण्णेण पुण तच्चं ॥

अर्थात्–अहो ज्ञानी जनो ! जो तुम जिनेश्वर के मार्ग पर चलना चाहते हो तो तुम्हें व्यवहार और निश्चय इन दोनों में से एक को भी छोड़ना योग्य नहीं है। क्योंकि व्यवहार को छोड़देने से रत्न त्रय स्वरूप जो धर्म तीर्थ है, उसका नाश होता है और निश्चय को छोड़देने से तत्व के शुद्ध स्वरूप का अभाव होता है।

जैसे दंड और चक्र आदि निमित्त कारण के विना उपादान कारण रूप मिट्टी के पिण्ड से घट बनाने का कार्य सिद्ध नहीं होता है, तैसे ही व्यवहार रूप बाह्य क्रिया का त्याग करदेने से–सर्व निमित्त कारणों का नाश होने से, फक्त अकेले उपादान कारण से मोक्ष रूप कार्यकी सिद्धि नहीं होती है। इसलिये अर्वाचीन युगके अध्यात्म ज्ञानियों को यह बात ध्यान में रखकर पहिले निश्चय और व्यवहार इन दोनों का जान पना कर लेना चाहिये, पश्चात् यथा योग्य स्थान निश्चय में निश्चय रूप और व्यवहार में व्यवहार रूप श्रद्धा करना योग्य है, पक्ष पाती कदापि नहीं होना चाहिये। क्योंकि एकान्त पक्षी मिथ्यात्वी गिने जाते हैं, और जैन सिद्धान्त के वेत्ता हठ ग्राही नहीं होते हैं। जैन मत का कथन ही अनेक प्रकार का अविरोध रूप है।

अब गौणता पक्ष से नय के सात भेद किये हैं, सो कहते हैं।

(१) 'नैगम नय'। 'न एको गमो यस्य सः नैगमः' अर्थात् जिसके एक गम (विकल्प) नहीं, जो बहुत विकल्प यानी भेदों से युक्त होवे सो नैगम नय। इस नय वाला सामान्य * और विशेष दोनों को ग्रहण करता है। वस्तु अनन्त हैं, परन्तु यहां फक्त जीव का ही उदाहरण लेते हैं। जैसे

* सामान्य जाति वगैरह को कहते हैं जैसे–मनुष्य। हजारो मनुष्य अलग अलग हैं तो भी सब की एक ही जाति मनुष्यता है। और विशेष सो भिन्न भिन्न व्यक्ति। जैसे सर्व मनुष्य एक रूप होकर भी अलग अलग गुण से अलग अलग पहचाने जाते हैं। यह ऊँचा है, यह नीचा है, ऐसे ही यह गौरा है, यह काला है–ऐसा प्रत्येक मनुष्य मे कुछ न कुछ भेद तो अवश्य ही होता है। कहने भी हैं कि–

जीव गुणपर्याय वाला है, अर्थात् जीवमें सामान्य धर्म जीवत्व है-जीव सदा काल जीवता ही रहता है, यह सामान्य। और जीवकी पर्याय का परिवर्तन होता है, अर्थात् नरक तिर्यञ्च मनुष्य देव इत्यादि गति एवं जाति से भिन्न भिन्न भेद होते हैं, । यह विशेष इसी प्रकार यदि अजीव पर लेवें तो यह घट है-यह सामान्य धर्म और यह रक्त है पीत है छोटा है बड़ा है-यह विशेष धर्म। न्याय और वैशेषिक मत वाले इस नय को ही मान्य करते हैं।

(२) 'संग्रह नय'। 'सगृह्णाति इति सग्रहः' अर्थात्-जो संग्रह एकत्रित करे सो संग्रह नय। इस नय वाला विशेष धर्मको गौण रख कर सत्ता रूप सामान्य को मुख्यत्व करके स्वीकारता है। जैसे जीवका नाम लेने से सब जीवों का एवं जीवोंके असंख्य प्रदेशों का समावेश होगया। इसी प्रकार जगत् का नाम लेने से जगत् के सर्व पदार्थोंका, बगीचे का नाम लेने से उसमें के सर्व पदार्थोंका बोध होजाता है। अद्वैत (वेदांत) और सांख्य मतवाले इस नय को मानते हैं।

(३) 'व्यवहारनय'। "वि विशेषनयैव सामान्यमवहरति" अर्थात् जो सामान्य को विशेषतया ही स्वीकार करता है, वह व्यवहार नय है। इस नय वाला मुख्यतया विशेष धर्म को ही ग्रहण करता है। जैसे जीव विषयवासनासहित कर्म वाला है। इस में शरीर और विषयेच्छा ये दोनों कर्म हैं, सो सिद्ध के नहीं है। इस लिये कर्म है सो जीवकी पर्याय है, परन्तु सत्तारूप नहीं है। क्योंकि कर्म से बदलता जाता है। जैसे जीव के दो भेद हैं-ग्रंथी अभेदी सो अभव्य, और ग्रन्थी भेदी सो भव्य। भव्यजीव के दो भेद हैं-मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी। सम्यक्त्वी जीव के दो भेद हैं-देशविरति, और सर्व विरति। (पंचमहाव्रत धारी) सर्व विरति जीव के दो भेद हैं-प्रमत्त और अप्रमत। अप्रमत के दो भेद हैं-श्रेणि अप्रतिपन्न और श्रेणिप्रतिपन्न। श्रेणिप्रतिपन्न के दो भेद हैं-सवेदी और अवेदी। अवेदी के

—"पाग भाग सूरत शकल, वाणी चाल विवेक।
ऐता मिलाया नहीं मिले, देखे नर अनेक।"

इससे जाना जाता है कि सामान्य विना विशेष नहीं, और विशेष विना सामान्य नहीं। वस्तु मात्र में सामान्य और विशेष दोनो धर्म पाते हैं, परन्तु नय भेद से इनके मानने में फरक पडता है।

दो भेद हैं—सकषायी और अकषायी। अकषायी के दो भेद हैं—उपशांत मोही, और क्षीण मोही। क्षीण मोही के दो भेद हैं—छद्मस्थ और केवली। केवली के दो भेद हैं—संयोगी और अयोगी। अयोगी के दो भेद हैं—संसारी और सिद्ध। इस प्रकार व्यवहार नय, संग्रह नय द्वारा ग्रहण करी हुई वस्तु के भेदान्तर करता है। चार्वाकमतावलम्बी इस नय को मानते हैं।

(४) "ऋजुसुत्रनय"। ऋजु का अर्थ सरल है और सूत्रका अर्थ बोध है। अर्थात् जो सरल रूपसे बोध कराता हो उसे ऋजु सूत्र नय कहते हैं। इस नय वाला केवल वर्तमान काल की बात को ही मानता है। क्योंकि वस्तु के अतीत पर्याय का तो नाश होगया है और अनागत पर्याय की उत्पत्ति नहीं हुई है, केवल वर्तमान ही समुपलब्ध है। जैसे कोई वस्तु गत काल में काले रंग की थी, वर्तमान में लाल होगई है और आगामी काल में पीली होने वाली है। इस दशा में ऋजु सूत्र, भूत भविष्य की पर्याय का त्याग कर, केवल वर्तमान में लाल दिखती हुई पर्याय को ही ग्रहण करता है। बौद्ध दर्शन वाले इस नय को मानते हैं।

(५) "शब्दनय"। "शप्यते आहूयते वस्तु अनेन इति शब्दः" अर्थात् जिससे वस्तु बोलने में आवे सो शब्द। और एक वस्तु के अनेक नाम के शब्दों का एक ही अर्थ समझे सो शब्द नय। जैसे कुंभ, कलश, घट, इत्यादि शब्दों का अर्थ एक घड़ा ही समझता है। वह भी पृथु (पहोला) बुध्न (गोल) संकुचित उदर वाला मिट्टीका बना हुआ और प्रवाही पदार्थ को संग्रह कर सकने में समर्थ, ऐसे भाव (गुण) संयुक्त पदार्थ को घट मानता है। भाव यह है कि शब्द के वाच्यार्थी पर्याय को मानने वाला शब्द नय है।

(६) "समभिरुढ नय"। सं सम्यक् प्रकारेण पर्यायशब्देषु निरूक्तिभेदेन अर्थमभिरोहन् समभिरुढः" अर्थात्—जो जो पर्याय जिस जिस अर्थ के योग्य हो, उस उस पर्याय को उसी उसी अर्थ में अलग अलग माने, शब्द के अर्थ की उत्पत्ति में लक्ष रक्खे सो समभिरूढनय। * जैसे जिसमें घट घट

* शब्द नय वाला, शब्द पर्याय भिन्न भिन्न होते हुये भी शब्द को एक ही अर्थ का वाचक समझता है, और समभिरुढ नय वाला प्रत्येक शब्द का अलग अलग अर्थ करता है, इतना ही इन दोनो नयों में भेद है।

शब्द की ध्वनि होती होगी उसे ही घट कहेगा, खाली को नहीं।

(७) "एव भूत नय"। एवं—इसी प्रकार × भूत—तुल्य जैसा। अर्थात् जो पदार्थ अपने गुणों करके पूर्ण हो और जिस क्रिया के योग्य हो, उस ही क्रिया में लगा हो—वही क्रिया करता हो और उस ही क्रिया में उस के परिणाम होवें, उसे एवं भूत नय कहते हैं। जैसे घड़ा पाणी से भरा हो, स्त्री के सिर पर धरा हो, मार्ग में लेजारहा हो, घट घट शब्द कररहा हो, उसेही एवंभूत नयवाला 'घड़ा' कहेगा न कि-घर में पड़ेहुये को। पांचमी छठी—सातमी इन तीनों नयोंको व्याकरणज्ञ लोग मानते हैं।

इन सातों नयों का दो नयों में भी समावेश होजाता है। प्रथम की चार नयों को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं, क्योंकि ये द्रव्य के अस्तित्व को ही मुख्यता में ग्रहण करते हैं। जैसे १ नैगम नय वाले जीवको गुण पर्यायवंत कहते हैं। २ संग्रह नय वाले असंख्यात प्रदेशात्मक को जीव कहते हैं। ३ व्यवहार नय वाले संसारी और सिद्ध यों भेदात्मक विवक्षा करते हैं। ४ और ऋजु सूत्र नय वाले सोपयोगी जीव कहते हैं। इस तरह ये चार नय द्रव्य की मुख्यता करते है। और पीछे की तीन नयों को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। क्योंकि ये पर्याय भाव के अस्तित्व को ही मुख्यता में ग्रहण करती हैं, इसलिये ये मात्र भाव निक्षेप को ही स्वीकार करती हैं। तथा पहिली नय से दूसरी नय अधिक शुद्ध, दूसरी से तीसरी नय अधिक शुद्ध, यों सातों ही नय उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुद्ध हैं। और पहिली नय दूसरी नय से अधिक विषय वाली, दूसरी नय तीसरी नय से अधिक विषय वाली, यों पहिली की नय आगे की नयों से अधिक विषय वाली हैं। जैसे १ संग्रह नय मात्र सामान्य को ही ग्रहण करती है, और नैगम नय सामान्य विशेष दोनों को ग्रहण करती है २ व्यवहार नय एक आकृति युक्त विशेष वस्तु को ही ग्रहण करती है, और संग्रह नय जिसमें आकृति उत्पन्न होने की सत्ता है, उसे भी ग्रहण करती है। जैसे व्यवहार नय वाला मृत्तिका ने जो घटकी आकृति धारण करी है, उसेही घट कहेगा और संग्रह नय वाला जिस मृत्तिका के पिंडका घट बनता है उस भी कह देता है। ३ ऋजु सूत्र नय, मात्र एक वर्तमान काल

को ही मानता है और व्यवहार नय तीनों कालों को मानता है ४ शब्दनय वचन के लिंग में भेद नहीं मानता है और ऋजु सूत्र नय वचन के लिंग आदि का भिन्न भिन्न भेद करता है। ५ समभिरूढ़ नय अर्थ वाचक पर्याय का ही ग्रहण करता है और शब्द नय एक पर्याय का ग्रहण करके इंद्र शक्र आदि शब्दों को ग्रहण करता है ६ एवंभूत नय प्रति समय क्रिया करने के भाव को ही ग्रहंण करता है और समभि रूढ़ नय सक्रिय को ग्रहण करता है। ऐसे सातों ही नय एकेक से अल्पविषयी है।

ये सातों ही नय अपने अपने स्वरूप का अस्तित्व कायम करती हैं और दूसरी नयों के प्रति उदासीनता दर्शाती हैं। वैसे सब नय भिन्न-भिन्न अर्थ के ग्राही हैं। क्योंकि एवंभूतनय के अर्थ को अगर समभि रूढ़नय भी ग्रहण करने लग जाय तो एवंभूत और समभिरूढ दोनों नय एक ही होजायँगी—पृथक् पृथक् नाम रखने की फिर जरूरत ही क्या ? इसलिये समस्त नय अपना अपना अस्तित्व कायम करती हुई दूसरी नयों के प्रति उदासीनता न रक्खें तो वे दुर्नय तथा नयाभास कहलायँगी।

नयाभास का लक्षण 'स्वाभिप्रेतात् अशात इतरांशापलापी नयाभासः' है। अर्थात्—पदार्थ के अपने इष्ट अंश से दूसरे अंशका निषेध करे और शुद्ध नय जैसा मालूम दे तो उसे नयाभास कहते हैं। इसलिये जो एकान्त नय का ग्रहण करते हैं वे दुराग्रही एवं ज्ञान मूढ कहे जाते है, ऐसा जान कर ज्ञानियों को विशुद्ध नय का ही ग्रहण करना चाहिये।

अब कोई प्रश्न करे कि जब सातों नय भिन्न भिन्न अभिप्राय वाले हैं तो सातों का एक ही वस्तु में समावेश किस तरह होसकता है ? यहां उक्त प्रश्न का समाधान एक दृष्टान्तद्वारा करते हैं:—जैसे एकही पुरुष पिता की अपेक्षा से पुत्र है, पुत्र की अपेक्षा से पिता है, दादा की अपेक्षा से पोता है, पोता की अपेक्षा से दादा है, मामा की अपेक्षा से भाणजा है, भाणजा की अपेक्षा से मामा है, काका की अपेक्षा से भतीजा है, भतीजा की अपेक्षा से काका है, और स्त्री की अपेक्षा से पति है—यों सातों ही पक्ष एक पुरुष पर, अपेक्षा वाद से लागू होते है। परन्तु ऐसा नहीं समझिये कि पिता की अपेक्षा से पुत्र कहा तो वह सबही का पुत्र समझा जायगा।

इस भांति सातों नय परस्पर भिन्न होकर भी सबकी सब एक वस्तु पर लागू होती हैं और इसेही सापेक्ष व्यवहार कहते हैं। यही सम्यक् ज्ञान का कारण है। उपरोक्त दृष्टान्त से विचारने पर सातों नयों का भिन्न भिन्न स्वरूप और सातों नयों का एक ही पदार्थ पर लागू होना, स्पष्टतः दीखता है —किसी भी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने का कारण ही नहीं रहता है—और प्रत्यक्ष दीखता है कि एक नय के ज्ञान से अधिक नय का ज्ञान वाला पुरुष अधिक प्रज्ञाशील होता है—ज्ञान में उत्तरोत्तर वृद्धि होती ही जाती है।

यह नय का ज्ञान बड़ा ही गहन है। सर्वज्ञ के सिवाय कोई भी पार नहीं पा सकता है। बड़े बड़े विद्वान् आचार्यों ने नय ज्ञान सम्बंधी अनेक ग्रन्थों की रचना रची और अन्त में लिख दिया कि—

इति नयवादाश्चित्राः कचिद्विरुद्धा इवाथ च विशुद्धाः।
लौकिक—विषयातीता स्तत्व—ज्ञानार्थमधिगम्या :॥

यह नय वाद विचित्र है, अनेक प्रकार का है, कहीं कहीं विरुद्ध जैसा भी दीखता है, परन्तु वस्तुतः विशुद्ध निर्मल होता है। यह नयों का ज्ञान लौकिक विषय से तो बाहिर है, परन्तु तत्व ज्ञानियों को तो बहुत ही जानने लायक है।

नैकान्तसगतदशा स्वयमेव वस्तु।
तत्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः॥
स्याद् वाद शुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो।
ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलघयन्तः॥

अर्थात—आत्मार्थी संत, जिन भाषित स्याद्वाद न्याय रूप दृष्टि के द्वारा सर्व वस्तुओं को सहज भाव से अनेकान्तात्मक देखते हैं, जिससे वे परम विशुद्ध निर्मल ज्ञान के धारक होते हैं।

इस प्रकार बहुसूत्रीजी, नयों द्वारा सूत्रार्थ को स्वयं जानते हैं और श्रोताओं को यथातथ्य रूप से प्रगमाते हैं।

निक्षेप का स्वरूप ।

किसी भी वस्तु का चार प्रकार से निक्षेप तथा आरोप किया जाय सो निक्षेप कहलाता है ।

(१) आकार और गुण आदिक की अपेक्षा के विना मात्र किसी भी नाम से किसी वस्तु का व्यवहार करे सो "नाम निक्षेप"। जैसे ज्ञानचंद, जीवराज, साधूराम आदि ।

(२) किसी भी वस्तु का किसी भी प्रकार का आकार होवे या बनावे सो "स्थापना निक्षेप"। जैसे जीव का चित्र सो जीव की स्थापना, पुस्तक सो ज्ञान की स्थापना और साधू का बाह्यरूप सो साधू की स्थापना ।

(३) भूत और भविष्यत् कार्य होने के प्रति जो कारण रूप होवे सो "द्रव्य निक्षेप"। जैसे जहांतक निजात्म ज्ञान न हो वहांतक द्रव्य-जीव । बोध यानी समझ रहित सो द्रव्य ज्ञान । और गुण रहित एवं वैराग्य रहित सो द्रव्य साधू आदि ।

इन तीनों निक्षेपों को अनुयोगद्वार शास्त्र में "अवत्थू" यानी शून्य कहा है ।

(४) तद्रूप यथानाम तथा गुण होवे सो "भाव निक्षेप"। जैसे—निजात्म स्वरूप का जिसे ज्ञान होवे सो भाव जीव । अर्थ—परमार्थ की समझ से ज्ञान होवे सो भाव ज्ञान । और विभाव के त्याग से स्वभाव में रमण करे सो भाव—साधू ।

नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेप तो भाव निक्षेप के निमित्त कारण हैं, और द्रव्य निक्षेप भाव निक्षेप का उपादान कारण है ।

प्रमाण का स्वरूप ।

जिस के द्वारा वस्तु के वस्तुत्व का बोध होवे सो "प्रमाण"। वह चार प्रकारका है:—(१) शास्त्रद्वारा जिसका बोध हो सो "आगमप्रमाण"। (२) किसी अन्य की उपमा देने से जो बोध हो सो "उपमा प्रमाण"। (३) अनुमान लगाकर वस्तु का जो बोध हो सो "अनुमान प्रमाण"। (४) और वस्तु को प्रत्यक्षतः देख कर जाने सो "प्रत्यक्ष प्रमाण"।

अनुयोग का स्वरूप ।

हेय-छोड़ने योग्य, ज्ञेय-जानने योग्य और उपादेय आदर ने योग्य बातों का जिससे पूर्ण ज्ञान होवे, उसे उपयोग कहते हैं। वह चार प्रकार का है-(१) परम पुण्यात्मा त्रेसठ शला का पुरुष आदि सत्पुरुषों के भवान्तर आदि का कथन सो "धर्म कथानुयोग"। २ लोकालोक के आकार का और उसमें रहे हुए चन्द्र सूर्यादि पदार्थों का कथन सो "गणितानुयोग" (३) स्वमती अन्यमती की एवं साधू श्रावक की क्रिया का कथन सो "चरण करणानुयोग"(४) और नय निक्षेप प्रमाण आदि द्वारा संशय और विपर्यय रहित सत् जैन मत के स्वरूप का कथन होवे सो "द्रव्यानुयोग"।

व्यवहार और निश्चय का स्वरूप ।

व्यवहार के दो भेद हैं—अशुद्ध व्यवहार और शुद्ध व्यवहार। अशुद्ध व्यवहार के पांच भेद हैं-१ अशुद्ध, उपचरित, अशुभ, शुभ और अनुपचरित। अब इन पांचों का खुलासा कहते हैं—(१) जीवों के सत्ता में राग द्वेषादि रूप अशुद्धि अनादि काल से लगी हुई है, सो अशुद्ध व्यवहार (२) कोई जीव, घर आदि स्थावर द्रव्य और पुत्र आदि जंगम द्रव्य-इत्यादि अपने से प्रत्यक्षतः भिन्न भिन्न वस्तुओं को भी ऋजु सूत्र नय के उपयोग से अपनी करके माने एवं उनका स्वामी बने सो अशुद्ध उपचरित व्यवहार। और धर्म स्थान, * ज्ञानोपकरण, धर्मोपकरण आदि स्थावर वस्तु और गुरु शिष्य श्रावक आदि जंगम वस्तु प्रत्यक्षतः अपने से भिन्न हैं तो भी ऋजुसूत्र नय के उपयोग से आप उनका मालिक बने सो शुद्ध उपचरित व्यवहार (३) कोई जीव, अठारह प्रकार के पाप उपार्जित करनेवाले कार्य तथा संसार व्यवहार साधने के लिये विवाह मृतकभोज

---

* श्री सुयगडागजी सूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध के सात वे अध्याय में कहा है कि— लेप नामक श्रावक ने अपने मकान बनाते समय बचे हुये ईंट-चूना-लकड़ वगैरह द्रव्यों से एक शाला (उपाश्रय) बनाई थी। जिसका नाम शेष द्रविक उदक शाला रक्खा था। उस मे श्री गौतम स्वामी जी विराज मान हुये थे। धर्म स्थान बनाने वालों को यह बात ध्यान में लेने की है।

व्यापार आदि कार्य ऋजुसूत्र नय के उपयोग से करे सो अशुद्ध व्यवहार (४) कितनेक धर्मात्मा जीव, अठारह पाप के कामों का त्याग करके दान-शील-तप-भाव-करुणा-यत्ना-भक्ति-आदि ऋजुसूत्र नय के उपयोग से करें सो शुद्ध व्यवहार (५) शरीर आदि द्रव्य, सो कर्मरूप पर वस्तु हैं, इनको अज्ञानता के जोर से ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से अपनी करके माने सो अनुपचरित व्यवहार। इस भांति अशुद्ध व्यवहार नय के पांच भेदों का स्वरूप कहा।

उक्त अशुद्ध व्यवहार नय में जो पांच तरह से काम करने के लिये कहा है, वे काम गये काल में किये, वर्तमान काल में करे और आगामी काल में करेगा सो नैगम नय। शुभ व्यवहार और शुद्ध उपचरित व्यवहार तो शुभ कर्म के दलिये का संचय करे, और अशुद्ध-अशुभ-उपचरित-और अनुपचरित इन की प्रणति में प्रणम कर अशुभ कर्म के दलिये का संचय करे सो संग्रह नय। शुभा-शुभ कर्मों का बन्धन हुआ सो व्यवहार नय। गये काल में ग्रहण किये हुये दलिये का बन्ध वर्तमान में सत्ता रूप रहे और उनको आगामी काल में भोगेगा सो नैगम नय के मत से व्यवहार। और स्थिति परिपक्व होने पर उदय हुये कर्मों को सम्यक्त्वी उदासीन भाव से भोगवे और मिथ्यात्वी लुब्ध भाव से भोगवे सो बाधक व्यवहार। यों अशुद्ध व्यवहार पर नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र-ये चार नय लागू होती है।

अब शुद्ध व्यवहार नय का स्वरूप कहते हैं-शब्द नय के मत से सम्यक्त्व से लगा कर प्रमत्त अप्रमत्त गुण स्थान वर्ती साधू साध्वी श्रावक श्राविका जो शुद्ध व्यवहार नय से प्रवर्तते हैं उन में पांच नय मिलती हैं। आठोंही रुचक प्रदेश त्रिकाल में सिद्ध जैसी निर्मल अवस्था को धारण कर रहे हैं सो नैगम नय। सिद्ध जैसी आत्म सत्ता असंख्यात प्रदेशी है सो संग्रह नय। गुण स्थान के गुण एवं आचारके अनुसार प्रवृत्ति सो व्यवहार नय। संसार से उदासीनता वैराग्य रूप प्रणाम की धारा प्रवर्ते सो ऋजुसूत्र नय। जीवाजीव द्रव्य रूप अपना पराया अलग अलग जानने का भेद विज्ञान सो शब्द नय। इस प्रकार दृष्टि से देखते हैं

एक शब्द नय है, और अंतर दृष्टि से देखते हैं तो पांच नय मिलते हैं। यह शुद्ध व्यवहार नय, शब्द नय के मत से कही।

अब समभिरूढ नय के मतसे शुद्ध व्यवहार नय का स्वरूप कहते हैं। अष्टम गुण स्थान से लगाकर तेरह में चौदह में गुण स्थान वर्ती जीव, शुद्ध व्यवहार नय के अनुसार वर्तने वाले हैं (१) तीनही कालमें आठ रुचक प्रदेश निरावरण हैं, सो नैगम नय (२) जैसी सिद्ध की सत्ता को पहिले जानते थे वैसी ही प्रगट हुई सो संग्रह नय (३) अंतःकरण में निजात्म स्वरूप में रमण रूप क्रिया और बाह्य करणी का कारण सो व्यवहार नय (४) शुद्ध उपयोग में प्रवृत्ति सो ऋजुसूत्र नय (५) क्षायिक सम्यक्त्व गुण प्रगटे सो शब्द नय (६) और शुक्ल ध्यान के दूसरे तीसरे पाये वर्ते सो समभिरूढ नय। ऐसे केवली भगवंत में व्यवहार दृष्टि से देखें तो एक समभिरूढ नय है, और अंतरंग में निश्चय दृष्टि से देखें तो उक्त छः नय पाती हैं।

अब शुद्ध निश्चय व्यवहार नय का स्वरूप कहते हैं— एवंभूत नय के मत से, जो सिद्ध भगवान् अष्टकर्म के क्षय होने से अष्टगुण—संपन्न लोकान्त में विराजमान सादि अनंतवें भांगे वर्तते हैं, उन में शुद्ध निश्चय नय पाती है। और उन में जो सातों नय उतारें तो—१ सिद्ध परमात्मा के आठ रुचक प्रदेश गये काल में आवरण रहित थे, वर्तमान में हैं, और आवते काल में रहेंगे सो नैगम नय (२) सिद्ध की आत्म-सत्ता निरावरण अंतःकरण शुद्ध निर्मल जैसी थी वैसी है सो संग्रह नय (३) सिद्ध प्रभू के ज्ञान में संसार में के समस्त द्रव्यों के उत्पाद व्यय ध्रुवभाव को जाने सो व्यवहार नय, (४) सिद्ध परमात्मा अपने प्रणामिक भाव में रहे हुये सामान्य विशेष रूप उपयोग में सदा काल वर्ते सो ऋजुसूत्र नय (५) पहिले भेद विज्ञान के होने से क्षायिक सम्यक्त्व गुण प्रगट हुये थे सो वर्तमान में भी हैं सो शब्द नय (६) अनंत ज्ञानादि चतुष्टय रूप जो लक्ष्मी प्रगट हुई है, वह उनही के पास है सो समभिरूढ नय (७) और सिद्ध परमात्मा के अष्ट कर्म नाश हुये, जिस से अष्ट गुण की प्राप्ति हुई और लोक के अग्रभाग में विराजमान हुये सो एवं भूत नय।

यों व्यवहार नय से तो सिद्ध प्रभू में एक एवं भूत नय है, और अंतरंग दृष्टि से देखेंतो कार्य रूप सातों ही नय मिलती हैं।

यों नय–निक्षेप–प्रमाण–अनुयोग- निश्चय- व्यवहार आदि के द्वारा बहुसूत्री जी भगवंत पूर्वोक्त द्वादशांग सूत्र तथा अन्य गणधर आचार्यों के रचित ग्रन्थ, जिस काल में जितने होवें उन सबके जानकार होवें। और ज्ञान श्रवण करने के रसीले श्रोता गणों की परिषद के मध्य भाग में विराजमान होकर, जब वर्षाकालीन मेघ की गर्जना के समान गर्जते हुये स्याद्वाद शैली से व्याख्यान फरमाते है, उसवक्त " अजिणा जिण संकासा जिनेश्वर तो नहीं हैं परन्तु जिनेश्वर जैसे मालूम पड़ते हैं। ऐसे उपाध्याय भगवंत की श्री उत्तराध्यनजी सूत्र में १६ उपमाऍ वर्णन की हैं। वे यहां कहते हैं:—

(१) "शंख" जैसे शंख में भरा हुआ दूध दोनों के उज्ज्वल होने से अधिक शोभता है, तैसे ही सद्गुणों के द्वारा बहुसूत्री जी उज्ज्वल हैं और उनमें भरा हुआ ज्ञानादिगुण स्वाभाविक उज्ज्वल होने से शोभता है। जैसे शंख में दूध का विनाश नहीं होता है, तैसे बहुसूत्री के भी ज्ञानका विनाश नहीं होता है। क्योंकि चोयणा प्रति चोयणा सदा होती रहती है जैसे वासु देव के पंचायण शंख के प्रबल नादसे शत्रुओं का नाश होता है। तैसे बहुसूत्रीजी के प्रबल सद्बोध से पाखंड का नाश होता है। इत्यादि गुण से बहुसूत्रीजी शंख जैसे है।

(२) "अश्व" जैसे कंबोज देश में उत्पन्न हुआ जातिवंत घोड़ा शीघ्र गति आदि गुणों से शोभता है, तैसे बहुसूत्री जी उत्तम जाति में उत्पन्न हुए और उत्तम आचार्य के पास अनुष्टुप् उपजाति, आर्या आदि छंदों में शास्त्रोच्चारण की रीति सीखे हुये, मधुर स्वाध्याय गुणों से शोभते हैं। जैसे जातिवंत घोड़ा सुशीलवंत सुलक्षण वंत होता है तैसे बहुसूत्री जी भी शुद्ध आचार वंत और सुलक्षणवंत तेजस्वी होते हैं। जैसे जातिवंत अश्व सवार की आज्ञानुसार चलता है और अपने उत्कृष्ट गति के वेग से महा संग्राम में से अपने स्वामी को अखंड बचालेता है, तैसे बहूसूत्री जी गुरु की आज्ञा में चलते है और पाखंडियों के समूह में भी जैन मार्ग की

विजय करते हैं। जैसे जातिवंत अश्व तोप आदि के भयंकर शब्द से और शस्त्र के प्रहार से भी त्रास नहीं पाता हुआ अचल स्थिर रह कर शत्रुओं पर स्वामी की विजय कराता है, तैसे बहुसूत्री पाखंडियों के आडम्बर से तथा उपसर्गों से बिलकुल ही त्रास नहीं पाते हुये स्थिर रह कर उनका पराजय करते हैं। जैसे उत्तम अश्व महाराजाओं का माननीय पूजनीय होता है, तैसे बहुसूत्री जी नरेन्द्र सुरेन्द्र के माननीय पूजनीय होते हैं।

(३) "सुभट"। जैसे पालण (खोगीर) आदि अनेक भूषणों द्वारा सुसज्जित अश्वपर बैठा हुआ शूरवीर योद्धा दोनों तरफ बाजिंत्रों के नाद और बंदीजनों की विरुदावली से शोभता है तैसे बहुसूत्रीजी विचित्र अधिकारों द्वारा सुसज्जित शास्त्र रूप अश्वपर आरूढ़ हुये पांच प्रकार के स्वाध्याय रूप बाजिंत्रों और शिष्यों के आशिर्वाद रूप शुभ विरुदावली से शोभते हैं। जैसे शूर सुभट अनेक शस्त्रसंयुक्त वैरियों के फंदे में फंसकर भी अपनी हिम्मत से निडर पने रहता हुआ फतेह करता है, तैसे बहुसूत्री जी अनेक निजागम रूप शस्त्र कवचादि से संयुक्त अन्यमतियों के किये हुये अनेक परिसहों एवं उपसर्गों से अड़िग रहकर उनका पराजय करते हैं अर्थात् उनको भी सुधारकर सन्मार्ग में लगाते हैं।

(४) "हाथी"। जैसे साठ वर्ष की पूर्ण यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ बलवान हाथी, अनेक हथणियों के परिवार से परिवरा हुआ शोभता है, तैसे बहुसूत्री जी शास्त्र का पूर्ण परिचय करके पूर्ण अवस्था जैसी प्रबल बुद्धि को प्राप्त हुये अनेक विद्यार्थी पाठकों से परिवृत शोभते है। जैसे हाथी शरीर आदि संपदा के द्वारा चतुरंगणी सेना में अग्रणी होता है, तैसे बहुसूत्री जी सूत्र ज्ञान आदि संपदा के द्वारा चारोंतीर्थ रूप सेना में अग्रणी होकर शोभते हैं। जैसे हाथी दोनों तीक्षण दाँतों से पर चक्री की सेना का पराभव करता है, तैसे बहुसूत्री जी निश्चय व्यवहार रूप तीक्षण दाँतों से पाखंडियों का पराभव कर शोभते हैं।

(५) "वृषभ"। जैसे बैल—सांड तीक्षण श्रृंग युगल और पुष्ट स्कन्ध से युक्त, गायों के परिवार से परिवरा हुआ शोभता है, तैसे बहुसूत्री जी रूप वृषभ, निश्चय व्यवहार रूप श्रृंग युगल और द्वादशांगी के ज्ञान

की पूर्णता रूप पुष्ट स्कन्ध से युक्त, साधू साधवियों के परिवार से परि-वृत, पाखंडियों का मान मर्दन करते शोभते हैं। जैसे धोरी वैल लिये हुये भार को प्राणान्त संकट का भी सामना करता हुआ अचल भाव से पार पहुंचाता है, तैसे बहुसूत्री संयमरूप भार या प्रतिज्ञारूप भार को परिसह उपसर्ग से विचलित न होते हुये पार पहुँचाते हैं।

(६) 'सिंह'। जैसे केशरी सिंह तीक्षण दाढ़ों और तीक्षण नखों के बलपर किसी से भी पराभव नहीं पाता है, और मृग आदि वनचर पशुओं के अधिपति के रूप में बन कर शोभता है, तैसे बहुसूत्री जी रूप सिंह सात नय रूप तीक्षण दाढ़ों तथा तर्क वितर्क रूप तीक्षण नखों के बलपर किसी भी परवादी से पराभव नहीं पाते हुये वितंडा (मिथ्यावादी) रूप पशुओं का पराभव करते शोभते हैं।

(७) 'वासुदेव'। जैसे वासुदेव महारथ में आरूढ़ हुये शंख चक्र गदा आदि शस्त्रों द्वारा वैरियों से अप्रतिहत रहते हैं और अपने पराक्रम से शोभते हैं, तैसे बहुसूत्री जी रूप वासुदेव ज्ञान दर्शन चारित्र रूप शस्त्रों से सज्जित एवं शील रूप रथ में विराजित होकर क्षमा रूप कवच धारण किये हुये अपने पराक्रम से कर्म शत्रुओंका नाश करते शोभते हैं।

(८) "चक्रवर्ती"। जैसे चक्रवर्ती महाराजा चौदह रत्न नवनिधान आदि ऋद्धि के द्वारा तीन दिशा में समुद्र पर्यंत और उत्तर दिशा में चूल हेमवंत पर्वत पर्यंत संपूर्ण भरत क्षेत्र के छः ही खंडों में एक छत्र राज करते हुये शोभते है, तैसे बहुसूत्री जी रूप चक्रवर्ती चौदह पूर्व के ज्ञान रूप चौदह रत्न नव बाड़ ब्रह्मचर्य रूप नव निधान आदि ऋद्धिके द्वारा ज्ञान रूप चक्रके प्रभाव से संपूर्ण धर्म रूप भरतक्षेत्र में या लोकके अंत तक धर्म राज प्रवर्ताते हुये शोभते हैं।

(९) "शक्रेन्द्र"। जैसे पहिले स्वर्गके देवेन्द्र शक्रेन्द्र जी हजार * आँखों के स्वामी बज्र रूप आयुध के द्वारा सर्व देवताओं पर अपनी आज्ञा प्रवर्ताते हुये शोभते हैं, तैसे बहुसूत्री जी रूप इन्द्र श्रुत ज्ञान रूप सहश्र

* शक्रेन्द्र जी के ५०० सामानीक देव सदा सम्मतिकार्य में आते है। इस लिये उनकी १००० आँखें गिनने से सहश्र चक्षु कहे जाते हैं।

आँखों के स्वामी, दयारूप वज्रायुध से छः ही काय के जीवों की रक्षा करते हुये एवं चारों तीर्थ में आज्ञा प्रवर्ताते हुये शोभते हैं।

(१०) "सूर्य"। जैसे सूर्य जाज्वल्य मान तेज प्रकाश की वृद्धि करके अन्धकार का नाश करता हुआ शोभता है, तैसे बहुसूत्री रूप सूर्य तप संयम में चढते प्रणाम रूप तेज प्रताप से उत्तम लेश्या रूप जाज्वल्य मान पणे से मिथ्यात्व रूप अन्धकार का नाश करते हुये एवं भव्य जीवों के हृदयकमलों को विकशित करते हुये विशुद्ध मार्ग का प्रकाश करते हैं तथैव शोभते हैं।

(११) "चन्द्र"। जैसे शरद पूर्णिमा का चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र ताराओंके परिवार से परिवरा हुआ सौम्य (शीतल) लेशा से शोभता है, तैसे बहुसूत्रीजी रूप चन्द्रमा मूल गुण उत्तर गुण की अखंडना रूप पूर्ण कलाओं से, क्षमा दया रूप सौम्य लेशा से तथा चार तीर्थ के परिवार से परिवरे हुये जैन धर्म का प्रकाश करते हुये शोभते है।

(१२) "कोठार" जैसे धान्य भरने का कोठार चारों तरफ से मजबूत बंदोबस्त किया हुआ सुदृढ कपाटों द्वारा अन्दर भरे हुए मालको मूषक एवं चौर आदि उपद्रवों से बचाकर रक्षा करता है तैसे उपाध्याय जी हृदय कोठार में श्रुत ज्ञान रूप भरे हुये अखूट माल को विषय-कषाय निंदा-विकथा आदि प्रमाद रूप चोरों और मूषकों से बचाकर सदा स्वरक्षण करते हुये शोभते हैं।

(१३) "जंबू वृक्ष" जैसे उत्तर कुरूक्षेत्र में रहा हुवा रत्नों का जंबू सुदर्शन नामक वृक्ष, सर्व वृक्षों में प्रधान, जंबूद्वीप के मालिक अणाढीय देवका स्थान, पत्र पुष्प फल आदि के द्वारा शोभता है, तैसे बहुसूत्री जी रूप जंबूवृक्ष, सर्व साधुओं में प्रधान उत्तम है दर्शन जिनके-इसलिये सुदर्शन. अणाढी देवके समान तीर्थंकर भगवंत का फरमाया हुवा ज्ञान जिनकी आत्मा में निवास कर रहा है, और दया रूप पत्र यश रूप पुष्प, अनुभव ज्ञान रूप अमृत फलों का स्वाद भव्यों को चखाते हुये शोभते हैं।

(१४) "सीता नदी" जैसे नीलवंत पर्वत के केशरी द्रहमें से निकली हुई सीता नामक महानदी पूर्व महाविदेह के मध्य भागसे वहती

हुई पांच लाख बत्तीस हजार नदियों के परिवार से परवरी हुई समुद्र में मिलती हुई शोभती है, तैसे बहुसूत्री जी रूप सीता नदी उत्तम कुल रूप नीलवंत पर्वत से निकल कर, श्रुत ज्ञान रूप अनेक नदियों के पानी से भरे हुये संसार के भव्य जीवों का उद्धार करते हुये मोक्ष रूप समुद्र में जाकर मिलते हैं।

(१५) "मेरु"। जैसे सर्व पर्वतों से ऊंचा और प्रधान मेरू नामक पर्वत चार वन और सल्यविसल्यसंरोहनी चित्रावेल संजीवनी आदि अनेक औषधियों से शोभता है, तैसे बहुसूत्री जी रूप मेरु पर्वत सर्व साधुओं में ऊंचे और प्रधान, अनेक लब्धि रूप औषधियों से संपन्न ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-रूप चार बन कर के शोभते हैं।

(१६) "सयभूरमण समुद्र"। जैसे सब द्वीप समुद्रों में अंतिम और सबसे बड़ा * अखूट पाणी से भरा हुआ अनेक रत्नों से सयंभूरमण समुद्र शोभता है, तैसे बहुसूत्री जी रूप सयंभूरमण समुद्र सर्व विद्या के पारगामी, ज्ञान रूप अखूट पाणी से भरे हुये, चारित्र के गुण रूप अनेक रत्नों से भरे हुये शोभते है। ऐसी ऐसी अनेक शुभ उपमायुक्त श्री बहुसूत्री जी भगवंत, जैन शासन को दिपाते हैं।

यह बहुसूत्री जी का ज्ञान गुण आश्रित गुणानुवाद किया। अब कुछ चारित्र के गुण आश्रित गुणानुवाद किया जाता है। श्री बहुसूत्री जी भगवंत, करण सित्तरी अर्थात् जो समय समय पर यथावसर क्रिया करनी पड़ती हैं उस के ७० गुण और चरण सित्तरी अर्थात् जो सदा करनी पड़ती हैं ऐसी क्रिया के ७० गुण संयुक्त होते है। इसका यहां संक्षेप में वर्णन करते हैं।

(१-४) आहार, वस्त्र, पात्र, और स्थानक-ये चार निर्दोष भोगवे सो पिण्ड विशुद्धि। (५—१६) 'अनित्य भावना' अशरण भावना, संसार भावना, एकत्व भावना, अन्यत्व भावना, अशुचि भावना आश्रव भावना, संवर भावना, निर्जरा भावना, लोक संठाण भावना, बोधि दुर्लभ

* अर्धराजू क्षेत्र मे असंख्यात द्वीप समुद्र और अर्धराजू में मात्र एक सयभूरमण समुद्र है।

भावना, धर्म भावना, ये बारह भावनाएँ शुद्धमन से भावें। (१७-२८) पहली एक मासकी प्रतिमा, दूसरी दो मास की यावत् सातमी सात मासकी, आठमी नवमी दशमी सात अहोरात्रि की, ग्यारमी दोदिनकी, बारहमी तीन दिनकी—ये साधूकी बारह प्रतिमा। (२९-३३) श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्श—ये पांच इन्द्रियां वशमें करे। (३४-५८) वस्त्र ऊंचा रक्खे मजबूत पकड़े, जलदी जलदी नहीं करे, आदि से अंत तक देखे—ये चार देखने आश्रित कही। ५ यदि कोई जीव दिखाई देतो वस्त्र थोड़ा झटके, ६ खूब अच्छी तरह पूंजे ७ वस्त्र शरीर नचावे नहीं, ८ वस्त्र मसले नहीं, ९ विना पडिलेहे नहीं रक्खे १० ऊंचा नीचा तिरछा लगावे नहीं, ११ जोर से झटके नहीं १२ जीव को यत्ना से अलग धरे—ये बारह प्रतिलेखना प्रशस्त कही। १३ "आरंभडा" सो जलदी जलदी करे, या विपरीत करे, १४ "समद" सो वस्त्र मसले, १५ "मोसली" सो ऊपर नीचे तिरछी लगावे, १६ "फफोडन" सो जोर से झटके १७ "विखिता" सो वस्त्र विखेरे तथा देखे अनदेखे मिलावे, १८ "वेदिका" सो पांच * प्रकार से विपरीत करे, १९. वस्त्र मजबूत नहीं पकड़े, २० वस्त्र लम्बा करके रखदे २१ वस्त्र धरती पे रुलावे, २२ एकही बार पूरा वस्त्र देखलेवे २३ २४ शरीर को और वस्त्र को हिलावे २५ पांच प्रमादका सेवन करे- ये तेरह अप्रशस्त प्रतिलेखना हैं। सर्व पचीस प्रकार की पडिलेहणा हुई (५९-६१) मन वचन काय—इन तीनों योगों का निग्रह करे। (६२-६५) द्रव्य से वस्तु का, क्षेत्र से स्थानका, काल से समयका, भाव से परिणामका, कि यदि अमुक तरह से योग बनेगा तो ग्रहण करूँगा- ये चार अभिग्रह। (६६-७०) ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपना, परिठावणिया—ये पांच समिति पाले। ये सत्तर गुण करण सत्तरि के हुये

---

* १ एक गोडे पर दोनो हाथ रखकर पडिलेहे सो उंची वेदिका २ दोनों हाथ गोडेसे नीचे रख कर पडिलेहे सो नीची वेदिका ३ दोनों हाथों के बीच दोनों गोडे रख कर पडिलेहे सो तिरछी वेदिका ४ दोनो गोड़ों के बीच दोनों हाथ रख कर पडिलेहे सो पार्श्व वेदिका ५ दोनो हाथों के बीच एक गोड़ा रखकर पडिलेहे सो एक वेदिका।

(१–५) अहिंसा, सत्य, अदत्त, ब्रह्मचर्य, निर्ममत्व—ये पांच महाव्रत पाले। (६–१५) खंति, मुत्ति, अज्जव, मद्दव, लाघव, सच्च, संजम, तव, चेइय, ब्रह्मचर्य—ये दश प्रकार का यति धर्म आराधे। (१६–३२) पृथिवी, पाणी, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, और अजीव वस्त्रादि इनका रक्षण तथा पिय. उपेहा, पूंजणिया, परिठावणिया, मननिग्रह, वचन निग्रह, काय निग्रह—ये सतरह प्रकार का संयम पाले। (३३–४२) आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, नवदीक्षित, रोगी, स्थविर, स्वधर्मी, कुल, गण, संघ—इन दश की वैयावृत्य सेवा करे। (४३–५१) नव बाड़ विशुद्ध ब्रह्मचर्य पाले (देखो प्रकरण १२ वां) (५२–५४ ज्ञान, दर्शन, चारित्र—इनकी आराधना करे। (५५–६६) बारह प्रकार का तप करे (देखो प्रकरण ७ वाँ) (६७–७०) क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चारों कषायों को जीते। ये सत्तर गुण चरण सित्तरी के धारक बहुसूत्री जी होते हैं।

और भी बहुसूत्री जी भगवंत (१) स्वमत तथा अन्य मत के शास्त्रों के जानकार होते हैं। (२) आक्षेपिनी, विक्षेपनी, संवेगनी, निर्वेगनी-ये चार प्रकार की धर्म कथा मोटे मंडान से करते हैं (३) धर्म पर कोई अपवाद आपड़े तो उसे दूर करते हैं, श्रुत ज्ञानकी प्रबलता से त्रिकालज्ञ होते हैं (५) उग्र तप करते हैं, (६) आचार गोचर की कठिन वृत्ति रखते हैं, (७) सर्व विद्या के पारगामी होते हैं, (८) और ज्ञान गर्भित रसीली कविता करके जैन मार्ग दिपाते हैं। इस भांति आठ प्रकार से जैन मार्ग की प्रभावना करने वाले होते हैं।

और भी बहुसूत्री जी भगवंत महा विनीत होते हैं—गुरू आदिक सर्व जेष्ठों के अवर्णवाद कदापि नहीं बोलते हैं, परन्तु उनकी विनय साधते हैं—भक्ति करते हैं। चपलता, कपटता, कुतूहल इत्यादि अपलक्षणों से रहित होते हैं। प्रश्नोत्तर में कितना भी क्यों न परिश्रम हो तो भी ये कदापि संतप्त—एवं क्रोधी नहीं होते हैं। श्रुत ज्ञानादि अनेक गुणों के सागर होते हैं। सुरेन्द्र नरेन्द्र के पूज्य होकर भी कदापि किंचित् मात्र अभिमान नहीं करते हैं। धर्मोपदेश वगैरह वार्तालाप में बहुत ही मधुर

भाषी होते हैं। निंदकों तथा द्वेषियों के साथ भी मिष्ट वचनों से बोलते हैं। सदा क्लेश–कदाग्रह घटानेका ही प्रयत्न करते हैं। शांत दांत आदि अनेक गुण गणोंके सागर, सद्बोध से धर्म वृद्धि एवं तप वृद्धि करते हैं। इसी तपके वर्णन करने की अभिलाषा रख कर, प्रथम श्री बहु सूत्री जी भगवंत को नव कोटि विशुद्ध वंदना नमस्कार करता हूं। कृपा निधे! दास की वंदना स्वीकार कीजिये।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "बहुसूत्री
गुणानुवाद" नामक षष्ठ प्रकरण समाप्त।

प्रकरण—सातवाँ

—:o:—
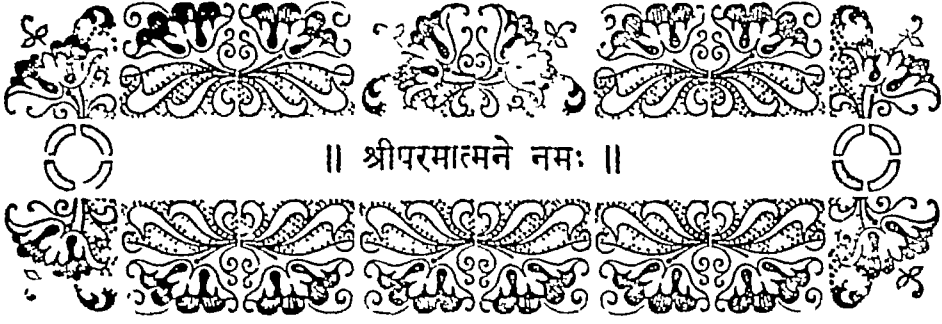
"तपस्वीगुणानुवाद"

स्त्र में मुक्ति प्राप्त करने के ज्ञान—दर्शन—चारित्र और तप ये साधन फरमाये हैं, जिसमें का सर्वोपरि साधन 'तप' नामक चौथा साधन है। तप यह आत्मा का निजगुण है—अर्थात् आत्मा अनादि काल से तपस्वी है, और भविष्य में अनन्त काल तक तपस्वी रहेगा। यद्यपि हम कुछ जीवों को भोगोपभोग भोगते हुये देखते हैं, परन्तु वे भोगोपभोग आत्मा (जीव) नहीं भोगता है। जीवात्मा तो सदा अनाहारिक—अभोगी है, अरूपी आत्मा रूपी पुद्गलों का भोग कदापि नहीं कर सकता है। यह तो पुद्गलों का भोग पुद्गलही करते हैं, परन्तु संसारी आत्मा अज्ञानता से या अनादि सम्बन्ध के कारण उन पुद्गलों के भोग को अपना ही भोग समझकर सुख दुःख वेदता है। अर्थात् जब इच्छित मनोग्य पदार्थ भोगने में आते हैं, तब अहा अहा करके खुशी होता है कि क्या मजा आया है, परन्तु यह

मज़ा नहीं हैं—दुःख ही है। क्योंकि भोग के पदार्थ उत्पन्न करते समय बड़ी मुशीबत भोगनी पड़ती है। खेत में धान बोने से लगाकर अपने संमुख आवे वहां तक उसके लिये कितना परिश्रम करना पड़ता है, उसे जरा अन्तर दृष्टि से विचारिये। और भोगते समय उसके स्वाद का कितनी देर सुख रहता है, और भोगने के पश्चात् शरीर में परगम कर एवं विकार उत्पन्न कर शरीर की और उन भोगे हुये पुद्गलों की क्या दशा होजाती है, इत्यादि विचार करने से मालूम पड़ जायगा कि भोगोपभोग में जो अज्ञानी सुख मानते हैं सो झूठ है—अर्थात् सुख नहीं है। और उन इच्छत वस्तुओं का कभी जोग नहीं बने तो भी दुःख ही होता है, कि हाय! भूख लगी—प्यास लगी—इत्यादि किसी भी प्रकार की इच्छा की अपूर्णता रहने से अनेक प्रकार से संक्लेश प्रणाम होने से दुःखी बनता है। यह जो भोगोपभोग की इच्छा है सो अष्ट कर्म में से तीसरे वेदनीय कर्म की प्रबलता का मुख्य कारण है। आहार की इच्छा को क्षुधा वेदनी कहते हैं, इस वेदनी से संसारी जीव सर्वदा पीड़ित हो रहे हैं। कितनेक नर्क तिर्यंच मनुष्य योनि के पापी जीवों को अमर्याद भाव से निरंतर आहार की इच्छा होती है, वे कितना भी भोगलेवें तो भी उनकी इच्छा तृप्त नहीं होती है, और पापोदय से तेतीस तेतीस सागरोपम पर्यंत उनको किंचत् भी इच्छित भोग का पदार्थ भोगने को नहीं मिलता है। और कितनेक पुण्यात्मा मनुष्य तथा तिर्यंचको तीन तीन दिन के अंतर से आहार की इच्छा होती है, कि तुरंत कल्पवृक्ष इच्छित पदार्थ देकर उनकी इच्छा पूर्ण कर देते हैं। तथा सर्वार्थसिद्ध के देवों को तेतीस हजार वर्ष मे आहार की इच्छा होती है और तुरंत रोम रोम से रत्नों के शुभ पुद्गल ग्रहण कर इच्छा पूर्ण होती है। परंतु इच्छा है सो ही दुःख है।

"मनहरछन्द"

दीयो भोग भारी पे अघातु न पाप कारी,
यातै इच्छा चारी पेट चेट का करारी है।
यामें चीज डारी ते ते कामहीतें टारी,
ऐसी कीसन निहारी यह कोटरी अन्धारी है।

कहाँ नर नारी सिद्ध साधक धर्म धारी,
पेट के भिखारी प्रीति पेटही तैं टारी है।
पेट वारी थारी न्यारी, न्यारी है गुन्हे गारी,
पेटही विगारी सारी पेट ही विगारी है॥

जो इस भयंकर दुःख से निर्वृत्त होने का उपाय करते हैं, वेही तपस्वी जी कहलाते है। ये तपस्वीजी अव्वलतो इस दुःख की उत्पत्ति के कारण से वाकिफ होते हैं।

(१) मुख्य कारण तो पुद्गल पुद्गलों का भक्षण कर रहे हैं, जिसे मै ही भक्षण करता हूं—ऐसा मानने का अनादि काल से आत्मा का स्वभाव पड़ रहा है। वह स्वभावही हर वक्त आत्मा को सताता है।

सो नत्थिदव्व सवणो, परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ।
तत्थ न जाओ न मडं, तिल लोय पमाणिव्वसघो॥ ३३॥
तेयाला तिणिसया, रज्जूणय लोए खेतपरीमाणं।
सतुनठ पएसा, जत्थण डुरुडुल्लिओ जीवो॥ ३४॥

—भाव पाहुड

अर्थ—यह संपूर्ण लोक ३४३ राजू का है। इसमें केवल ८ रुचक प्रदेश जितनी जगह छोड़कर बाक़ी का सर्व लोक यह जीव जन्म मरण कर स्पर्श आया है। एक प्रमाणु भी ऐसा नहीं है कि जो जीव के भोगोपभोग में नहीं आया हो। अर्थात् सब ही का भोग कर आया है।

(२) यह आत्मा जगत् के सर्व पदार्थों का भोग अनंती वार कर आया तो भी तृप्ति हुई नहीं। तथा रागद्वेष की प्रणति में प्रणम कर किसी भव में किन्हीं पदार्थों को पवित्र—मनोज्ञ—पथ्य समझ कर भोगा और किसी भव में उनहीं पदार्थों को अपवित्र—अमनोज्ञ—अपथ्य समझ कर छोड़ा, और उनके प्रतिपक्षियों को मनोज्ञ जान कर भोगा, ऐसेही यहां भी जीव अच्छे बुरे पदार्थों को देखकर राग द्वेष की प्रणति में आता है और प्रेम भाव कलुष भाव करके सुखी दुःखी होता है।

(३) पुद्गलों के मोह से या अज्ञानता के भ्रम से पौद्गलिक सुख में लीन हुआ जीव, पौद्गलिक सुख का त्याग कर विरक्त होने

वाले तपस्वियों को खोटे-खराब जानने लगता है—उनकी निन्दा करता है कि भूखे मरने से क्या भगवान् मिलते हैं ? नरकी देह (शरीर) है सो नारायण की देह है, इसे त्रसाने वाले—सताने वाले वस्तुतः महा पातकी हैं। इत्यादि अयुक्त शब्दोच्चारण करने वाले उस जन्म में या जन्मान्तर में तप नहीं कर सकने का तप अंतराय कर्म बान्धते हैं।

(४) स्वकुटुम्बी स्वजनों और मित्रों के मोह के वश में होकर, या कुपक्षके वश में होकर, स्वमतानुयायियों को तपश्चर्या करने की अन्तराय दे एवं मना करे कि तप करने से गरमी आदि रोग होता है—शरीर शक्ति-हीन होता है—इत्यादि तप के दुर्गुण बतावे और कहे कि नरक स्वर्ग की बातें सब की सब झूठी हैं, विना काम तप करके क्यों दुःखी होना, इत्यादि कु-बोधकर तप नहीं करने दे या दूसरे के लिए हुये तप का भङ्ग करावे, तो तपान्तराय कर्म का बन्धन करे, जिससे आगे को तप करने की शक्ति नहीं पावे।

(५) किसी को वेदनीय कर्मोदय के कारण किसी प्रकार के रोग का उदय हुआ हो तो उसे कहे कि—तैंने अमुक तप किया, जिससे यह रोग उत्पन्न हुआ—या अमुक नुकसान हुआ—या अमुक मरगया, इत्यादि तप पर कलङ्क लगावे तो तप अंतराय कर्म बाँधे।

(६) तपका नाम रखकर भी आहार करे, या लोगोंमें तपस्वी कहला कर गुप्त रूपसे आहार करे, अथवा कहे कि " गधे की तरह चर परन्तु एकादशी कर " यों कह कर एकादशी व्रत का नाम धारण कर कंद मूल मेवा मिष्टान्न आदि भक्षण करे तो तप अंतराय कर्म बांधे।

(७) धन के लालच से, यश के लालच से, सुख के लालच से तप करे एवं तप के बदले में द्रव्य वस्त्र या इच्छित भोजन आदि ग्रहण करे तो तप अंतराय बाँधे।

आहारोपधि पूजादि प्रभृत्याशंसया कृतं।
शीघ्रं सच्चित्तहन्तृत्वा द्विषानुष्ठानमुच्यते॥

अर्थात्—जो मिष्टान्नादि आहार की, वस्त्रादि उपकरणों की, पूजा श्लाघा की, और ऋद्धि आदि पौद्गलिक पदार्थों की, इस लोक में प्राप्ति

हो—ऐसी इच्छा से जो तपश्चर्या आदि क्रिया की जाती है, उसे शास्त्रों में विष (जहर) जैसा अनुष्ठान कहा गया है, क्योंकि ऐसे अनुष्ठान करने वालों की चित्तवृत्ति सदा मलिन रहती है।

(८) तपश्चर्या करके अहंकार करे कि मैं बड़ा तपस्वी हूँ—मैंने अमुक अमुक प्रकार के तप किये हैं और जिनसे तपश्चर्या न होवे उनकी निंदा हाँसी करे तो तप अंतराय बांधे।

(९) तप के संबन्ध में कायरता लावे कि क्या करें संवत्सरी का उपवास किये विना तो छुटकारा ही नहीं अथवा कब समय पूरा होवे और कब भोजन करूँ—इत्यादि दुर्विचार तथा दुरभिलाषा रखने से तप अन्तराय कर्म बंधता है।

(१०) निर्मल तपस्वियों को खाना आदि का कलङ्क लगावे—व्यर्थ ही ईर्षा करे—निंदा करे—या आप सशक्त होकर तपस्वियों की वैयावृत्य नहीं करे, साता नहीं उपजावे और कोई दूसरा साता उपजाता होवे उसे अन्तराय देवे तो तप अंतराय कर्म बान्धे।

इत्यादि तप अंतराय कर्म बँधने के कारणों को जानकर जिनको तप नामक धर्म निपजाना होवे, वे इन कर्मों से अपनी आत्मा बचाते हैं एवं तप करने के प्रति शक्तिवंत होते हैं, और तपस्वीजी कहलाते हैं।

(१) पूर्वोक्त रीति से जिन्होंने तप अंतराय कर्मका बन्धन किया हो और उसके फल स्वरूप जिनसे तप नहीं बनता हो तो, उनके लिये कर्मों को तोड़ने का मुख्य उपाय तो निश्चय नय की अपेक्षा से कर्मों की स्थिति की परिपक्वता होने पर उन तपोघातक कर्मों का क्षय होता है एवं क्षयोपशम होवें जब वीर्यान्तराय कर्म का क्षय होता है तभी आंतरिक वीर्य शक्ति हुलसायमान होती है, और आत्मा कर्मों के संमुख होकर उसका अनादि सम्बन्ध तोड़ने के प्रति प्रयत्न शील होती है और इच्छा का निरोधन करती है। इच्छा का निरोधन करना है सो ही मुख्य तप है।

(२) तपस्वीजी विचारते हैं कि—यह जीव अनादि काल से खा-खा कर जगत के सर्व खाद्य पदार्थों को भोग चुका है, अनंत मेरु पर्वत

जितनी मिश्री और अनंत सयंभूरमण समुद्र के पाणी जितने दूध का, कल्प-वृक्षों से प्राप्त होने वाले इच्छित भोजन का और चक्रवर्ती के यहां की रस-वतियों का भोक्ता भी अनंती बार हुआ है तो भी इच्छा तृप्ति न हुई। अब इन तुच्छ वस्तुओं के भोगने से क्या होना है ? इत्यादि विचारों के द्वारा तृष्णा घटावे।

(३) यदि तपश्चर्या करते समय विशेष जोर लगे एवं तपश्चर्या करना दुष्कर लगे तो विचार करते हैं कि–रे जीव ! जब नरक में रहाथा तब तुझे ऐसी क्षुधा जागृत हुई थी कि सर्व जगत के खाद्य पदार्थ एकही वक्त में खिला देवें तो भी क्षुधा शांत नहीं होवे, किन्तु अनाज का दाना किंवा खाने जैसा किंचित् भी पदार्थ वहां तुझे नहीं मिला और सर्व समुद्रों का पाणी एकही वक्त में पिला देवें तो भी तृषा शांत न होवे, किंतु एक बूंद भी पानी पीने को नहीं मिला ! ऐसी वेदना एक दो दिन या वर्ष दो वर्ष नहीं, परन्तु तेतीस तेतीस सागरोपम तक अनन्तानन्त कालतक सही है। अब यहां तपस्या में तो कितना काल लगता है ?

(४) रे जीव! और तू इस जगत में अपने सामने होते हुये वृत्ता-न्तों की ओर देख कि गौ–वृषभ–अश्व–गजादि अनेक पशु, बेचारे परा-धीनता में फँसकर रात दिन तन तोड़ परिश्रम करते हैं, तो भी उनको पेटभर कर गला सड़ा घास और मुफत में मिलनेवाला पाणी भी वक्त सिर पूरा नहीं मिलता है। और इस से भी बुरा हाल बिचारे वन वासी पशुओं का होता है। जब उष्ण ऋतु के प्रचंड तापसे वन में का घास आदि खाद्य पदार्थ और सरोवरों का पाणी सूक जाता है, तब वे विचारे वन पशू भूख और प्यास की प्रबल पीड़ा से व्याकुल होकर इतस्ततः भटकते हुये मूर्छा खाखा कर पड़जाते हैं, और तड़फ तड़फ कर प्राण–मुक्त हो जाते हैं। ऐसे हाल तो तेरे नहीं होते हैं।

रे जीव ! उन सब को जाने दे, परन्तु तू अपने जाति भाई मनुष्यों की तरफ ही जरा दया दृष्टि करके देख कि ग़रीबों और कुलीनों का यह कलिकाल क्या हाल कर रहा है ? ग़रीब तो बेचारे द्रव्य के अभाव से अनेकों की गुलामी करते हैं, मिट्टी पत्थरों के टोकरे सब दिन

ढोते हैं, काष्ट भारी लाकर बेचते हैं, इत्यादि कड़ी मेहनत से थोड़ा सा द्रव्य पाते हैं और पहर दो पहर रात्री गये बाद लूखी फीकी राबड़ी बना कर सब कुटुम्ब बाँट कर पीकर पड़ रहते हैं, ऐसे कष्ट में सारा जीवन पूरा करदेते हैं। और इन से भी बुरा हाल कुलीनों का होता है, वे तंग हालत में आकर न गुलामी कर सकते हैं, और न मांग ही सकते हैं। शर्म के मारे घर में ही भूख से तड़फ तड़फ कर मरजाते हैं। ऐसा हाल तो तेरा नहीं है।

(५) अरे प्राणी ! इनको देख कर तू क्या आश्चर्यान्वित एवं खेदान्वित होता है, खुद तेरा भी ऐसा ही हाल चारों गति के परिभ्रमण में अनन्ती बार हुआ है, परवश पड़ कर महा संकट सहा है। परन्तु उस से कुछ सकाम निर्जरा न हुई, अर्थात् धर्म का लाभ नहीं हुआ। कष्ट बहुत और लाभ थोड़ा—ऐसे ऐसे महा कष्ट अनेक बार सहे और कर्मों की कुछ निर्जरा होने से धीरे धीरे ऊंचे चढ़कर यह सामग्री पायी है।

(६) अहो मेरे प्यारे प्राणी ! तुझे अनन्तानन्त पुण्यानुबन्ध के संयोग से मनुष्य जन्म, आर्य क्षेत्र, उत्तमकुल, दीर्घायु, पूर्ण इन्द्रिय, निरोगी शरीर, सत्गुरुसङ्ग, शास्त्र श्रवण, सत्श्रद्धान और तप करने की शक्ति—ये दश साधन प्राप्त हुये हैं। उक्त साधनों के बल से तू अपने इष्ट कार्यों की सिद्धि कर सकने में समर्थ हुआ है, अतः जो चाहे सो कर सकता है।

—सदनुष्ठान रागेण, तद्धेतु मार्ग गामिना।
एतच्च चरमावर्तेनो भोगादे र्विनाभवेत्॥
धर्मयौवनकालोयं, भव बालदशापरा।
अत्र स्यात् सत्क्रियारागोऽन्यत्र चासत्क्रियादरः॥

अर्थात्—जिसका चर्म पुद्गल परावर्तन होगया हो—बाल दशा का अभाव होने से जो सम्यक् दृष्टि रूप यौवन अवस्था को प्राप्त हुवा हो—धर्म मार्गानु सारी हो—शुद्ध धर्म पर अनुरागभावयुक्त हो—यथा शक्ति शुद्ध क्रिया करता हो—उसे हेतु अनुष्ठान कहना अर्थात् इस अनुष्ठान से आत्मा का हित होता है।

अब इस प्राप्त हुई शक्ति को व्यर्थ न गवां। कुछ थोड़ी बहुत तो लेखे लगा। अर्थात् कर्म समूह को तोड़कर भव भ्रमण के संकट से या क्षुधा वेदनी के ताप से बचने के लिये उपाय करने का अलभ्य अवसर मिला है, तो अब तह मन तह चित्त से क्षुधा आदि परिसहों के संमुख होकर उन्हें शूरवीर धीर बनके सम भाव से सहन कर और घोर तप में पराक्रम फोड़ कि जिससे अनागत काल में तू ऐसा बन जाय कि फिर क्षुधा वेदनी कदापि प्रगटे ही नहीं, तुझे संताप उपजा सके ही नहीं। ऐसा करने से सर्व कर्मो तथा सर्व दुःखों से रहित निरिच्छित निराबाध अनंत अक्षय सुख रूप सिद्ध स्वरूप की प्राप्ति होती है।

(७) परन्तु सिद्ध स्वरूप की प्राप्ति होवे, ऐसी तपश्चर्या होनी कुछ सहज नहीं है, बहुतही मुशकिल है। ऐसी दु-साध्य सिद्धगति को प्राप्त करने में बहुत जन खप करते हैं। कितनेक अन्नका त्याग कर कन्द-मूल-फल-फूल-पत्र-सेवाल आदि भक्षण करते रहते हैं, कि जिसमें जैन शास्त्रों में संख्याते असंख्याते अनंते जीवों का पिंड फरमाया है। कितनेक पंचाग्नि ताप तपते हैं, जिसमें छाने लकड़ी के आश्रित रहे अनेक त्रस जीव और प्रत्यक्ष अनेक पतंगिये झम्पापात कर उसमें पड़ मरते हैं। ऐसे ही कितनेक जटा बढ़ाते हैं-नख बढ़ाते हैं-भभूती रमाते हैं-हाथ पांव सुखाते हैं-उलटे झूलते हैं-नग्न रहते हैं—पाणी में पड़े रहते हैं-स्मशान में पड़े रहते हैं-कीलोंपर सोते हैं-और कितनेक मृगादि पशुका मांस भी खाते हैं-इत्यादि अनेक कष्ट सहने से वे तपस्वी कहलाते हैं। फिर धन की स्त्री की तथा स्थान की अनेक इच्छाएँ धारण कर कोड़ी कोड़ी के लिये मारे मारे फिरते है और पूछो तो कहते हैं कि हम साधू है अर्थात् मोक्ष मार्ग के साधक तपस्वी है, परन्तु उनसे मोक्ष सदैव दूर है।

प्रणिधानाद्य भावेन, कर्म्मानिध्यवसायिनः।
संमूर्छिम प्रवृत्याभ मननुष्टान मुच्यते ॥

अर्थात्—सूत्र कथित रीति से विरुद्ध दूसरों की देखा देखी उपयोग शून्य असंज्ञी की तरह जो क्रिया करने में आवे, उसे अननुष्ठान कहते हैं। इससे सकाम निर्जरा तो नहीं होती है, परन्तु पुण्य उपार्जन करलेते है।

(८) मोक्ष के अधिकारी तो वेही होंगे जोकि सम्यक्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-दया-क्षमा-त्याग-वैराग्य-शील--संतोष युक्त तप करते हैं और घोर तप करके भी जिसके फल की किंचित् मात्र भी कदापि इच्छा नहीं करते हैं। यश को अपयश समझते हैं और अपयश निंदा को यश (कर्म हलके करने का सहज में प्राप्त हुआ उपाय) समझते हैं। सुख को दुःख और दुःख को सुख-जितना तप में ज़्यादा लगे उतना ही ज़्यादा निर्जरा रूप लाभ का कारण समझते हैं। विषय भोगको सच्चाही विष भोग (जहर के भक्षण जैसा) समझते हैं। धनको धूल, स्वर्ग को कारागृह (क़ैद खाना) समझते हैं। इत्यादि संसार दृष्टि से विपरीत श्रद्धालु हो तप करते हैं, और तप में प्रवृत्ति होने की किसी को भी मालूम नहीं पड़ने देते हैं। इस तरह तप करने वाले जो महान् तपस्वी होते हैं, वेही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

(९) अन्य तपस्त्रियों की महिमा सुनकर कदापि ईर्षा नहीं करते, प्रत्युत उनके गुणगान करते हैं। अन्य तपस्त्रियों को वैयावच्च आदि से साता उपजाते है, अर्थात् उनके स्वयं के लिये सुख स्थान और सुख शय्या का योग बना देते हैं, तेल आदि से शरीर को मर्दन करते है, लघू नीत आदि की परिठावणिया समिति करते हैं और पारणा के लिये प्रकृति के अनुकूल यथेच्छित मिष्ट स्निग्ध उष्ण आहार का योग बना देते हैं--इत्यादि विधि से साता उपजाते है, जिससे उनके तप की वृद्धि होती है। ऐसे वैयाव्रती जीव तपअन्तराय कर्म तोड़कर तपस्वी बनते हैं तथा मोक्ष प्राप्त करते हैं।

(१०) तप धर्म की वृद्धि करने के लिये पुद्गलानन्दियों और नास्तिकों को तप का गुण बतावें कि प्रत्यक्ष ही देखिये काले स्याह कोयले अन्य किसी भी उपाय से श्वेत नहीं होते है, परंतु ताप (अग्नि) में देने से--जलाने से उसी वक़्त श्वेतरंग की राख में परिणत होजाते हैं, तैसेही जो घोर पातकी सच्चा तप उपरोक्त रीति से करते हैं, वे घोर पापसे मुक्त होजाते हैं। उनकी अंतरात्मा पवित्र होजाती है।

(११) तपश्चर्या करने का सद्बोध प्रायः सभी मतावलम्बियों के

शास्त्रों में हैं। प्राचीन काल में भी उनके बड़े बड़े महात्माओं ने बहुत घोर तप किये हैं, जैसे विश्वामित्र ऋषि ६०००० वर्ष तक केवल लोह कीट का ही भक्षण करके रहे—पारासर ऋषि सेवाल यानी काई खाकर रहे—नव नाथ भी बारह बारह वर्ष तक काँटों पर खड़े रहे। ध्रुवजी ने बचपन से ही विकट तप करके ध्रुव—निश्चल पद प्राप्त किया। ब्रह्माजी ने ३॥ कोटी तप करके इन्द्रासन कँपा दिया। ऐसे ऐसे कितने ही दृष्टांत हैं। वर्तमान में एकादशी चन्द्रायण आदि तप भी कई लोग करते हैं।

(१२) तैसे ही मुसलमानों के नबी महोमद साहब ने भी थोड़े से दूध चांवल खाकर ही गुजरान किया है। और भी बहुत से बड़े बड़े पैगम्बरों—औलीयाओं मुरशदों के बहुत वर्षों तक जंगल में पत्ते खाकर निर्वाह करने के दाखले मिलते हैं, और अब भी रमज़ान का पूरा महिना रोजा रखते है, दिन भर थूक भी नहीं निगलते हैं। अतः वह भी किसी तरह का तप ही है।

(१३) तैसेही ईसाइयों (क्रिश्चियनों) के ईशु पैगम्बरने भी खुद अपने शरीर को परोपकार के लिये सूलीपर चढ़ाकर प्राण त्याग किया था, यह बात खुद उनके बाईबिल शास्त्र में लिखी है। और अब भी बड़े-बड़े डाक्टर अनेक बीमारियों से निरोग करने के लिये अनेक दिन तक साफ भूखे रखते हैं, और निरोगियों को भी उपवास करने से फायदा कितनेक बताते हैं।

(१४) ऐसे ऐसे अन्य मतान्तरों के अनेक दृष्टांत मिलते हैं और प्रत्यक्ष तप करते हुये अब भी नज़र आते है। ऐसा अज्ञान और वांछा सहित तप करने से भी जो लाभ होता है तो फिर ज्ञान युक्त तप करने से लाभ की प्राप्ति क्यों नहीं होगी ? अर्थात् जरूर ही होगी।

(१५) जैसे अन्य मतान्तरों में तप सम्बन्धी दाखले है, उससे भी अधिक असर कारक और विधि युक्त तप करने के जैन धर्म में भी अनेक प्रमाण हैं। प्राचीन काल में बड़े बड़े तपस्वी हुये हैं, जिन्होंने कनकावली—रत्नावली—मुक्तावली—गुणरत्न संवत्सर आदि अनेक प्रकार के तप किये हैं, जिनसे भविष्य में तो मोक्ष प्राप्त होती ही है और

वर्तमान में भी जैसे कृषक लोग गेहूं उत्पन्न करने के लिये ही गेहूं बोते हैं, परन्तु गेहूं के साथ घास फूस भी स्वभावसे ही उत्पन्न होजाता है, तैसे ही उस तप के प्रभाव से तपस्वियोंको अनेक प्रकार की लब्धियाँ पैदा होती थी।

(१६) जैन शास्त्रों में आत्म शक्ति रूप लब्धियाँ अट्ठाईस प्रकार की कही गई हैं—(१) "आमोसही" पैरों की धूल लगने से (२) "खेलो-सही" श्लेष्म यानी थूक आदि लगने से (३) "विप्पोसही" मल मूत्र के स्पर्श से (४) "जलोसही" पसीना लगने से, (५) "सव्वोसही" सर्व शरीर में से किसी भी अंगोपांग का स्पर्श होने से, शरीर के समस्त रोग दूर हो जाते है। भाव यह है कि लब्धिवंत तपस्वी की उपरोक्त पांच लब्धियों से, रोगी मनुष्यों के सब रोग नष्ट हो जाते है। (६) "संभिन्न-श्रुत" पांचों ही इन्द्रियों के विषय को एकही बार में ग्रहण कर, उनका अलग अलग अभिप्राय समझ जावे (७) अवधि ज्ञान की प्राप्ति होवे (८) ऋजुमति, कुछ न्यून मनः पर्यव ज्ञान की प्राप्ति होवे (९) विपुल मति, पूर्ण मनः पर्यव ज्ञान की प्राप्ति होवे (१०) केवल ज्ञान की प्राप्ति होवे (११) " चारण " आकाश मार्ग में उड़कर इच्छित स्थान जाने की शक्ति प्राप्ति होवे (१२) "असिविष" लब्धि के तीन प्रकार है। हलाहल जहर भी अमृत के समान परिणत होवे। बचन मात्र से विष नष्ट होजाय। कोप युक्त दृष्टि या बचन से दूसरे का नाश करदे (१३) गणधर का पद प्राप्त करे (१४) " पुव्वधारी " चौदह पूर्वका ज्ञान एक मुहूर्त में कंठाग्र करले (१५) "अर्हंत" अर्हंत भगवंत जैसी अतिशय आदि संपदा बना लेवे (१६) "चक्कवट्टी" चक्रवर्ती महाराज जैसी सेना रत्न आदि सब ऋद्धि बना लेवे (१७) "बल देव" बल देवकी ऋद्धि बना लेवे (१८) "वासु-देव" वासुदेव की ऋद्धि बना लेवे (१९) "खीरासव" नीरस आहार को हाथ के स्पर्श मात्र से खीर जैसा सरस बना देवे (२०) " महुरासव " अत्यंत कटु आहार को भी मीठा बना देवे (२१) "सप्पीरासव" अत्यंत रुक्ष आहार भी सचिक्कण बना देवे (२२) "कोठग बुद्धि" के दो प्रकार हैं। एकतो जिस प्रकार कोठार में अन्न का नाश नहीं होता उसी प्रकार उनको

कितना भी ज्ञान दिया जाय वह सब याद रखलें—भूलें नहीं। दूसरा, जिस प्रकार कोठार में से वस्तु निकालते नहीं खूटे, त्यों उनका ज्ञान भी कभी नहीं खूटे (२३) "बीयबुद्धि" ज्यों खेत में बोया हुआ बीज एक का अनेक होता है, त्यों उनका ग्रहण किया हुआ एक पद सहश्र पद होकर प्रगमता है। (२४) "व्यंजन लब्धि" अपनी अनधीत विद्या में का भी यदि दूसरा कोई अक्षर भूल जाय तो आप बता देवें (२५) "पदानुसारणी" एक पद के अनुसार से समूचा ग्रन्थ समझ जाय या प्रकाश देवे (२६) "वैक्रिय" एक रूप के अनेक रूप मन चाहे सो बना लेवें (२७) "अखिण" अल्प वस्तु को स्पर्श मात्र से अखूट बना देवें और (२८) "पुलाकलब्धि" कुपित होने पर चक्रवर्ती महाराजा तक की सेना को जला कर भस्म कर देवें। ज्ञान-दया-क्षमा-निरभिलापता युक्त तप करने से उक्त लब्धियों की प्राप्ति होती है।

(१७) परन्तु वे महात्मा इन लब्धियों का उपयोग नहीं करते थे-दूसरों को नहीं बताते थे, कि हम ऐसे पराक्रमी हैं। परंतु जैन धर्म पर एवं धर्मात्मापर जब किसी भयंकर विपत्ति के आपड़ने पर धर्म का या तीर्थ का विच्छेद होने जैसा मालूम पड़ताथा, तब छद्मस्थ की लहर नहीं रूकने से इन लब्धियों में से किसी एक लब्धि का प्रयोग करते थे और कार्य संपादन एवं अपवाद निवारण करते ही जिनाज्ञा उल्लंघन करने का प्रायश्चित ले शुद्ध होते थे। ऐसे निरभिमानी और पवित्र हृदय थे।

(१८) इस पंचमकाल में बहुत सी लब्धियों का विच्छेद हो गया है। इस वक्त इक मासी द्विमासी आदि तप करने वाले एवं छाल आदि एक दो द्रव्य पर ही सर्व आयु पूरी करने वाले बड़े बड़े ज़बर्दस्त तपस्वीराज विराजमान है, परन्तु उनमें भी लब्धिका प्रभाव क्वचित् ही दृष्टिगोचर होता है। इसका मुख्य हेतु मुझे तो यही दिखता है कि-इस वक्त निरीहित अर्थात यशः आदि किसी भी प्रकार के फलकी अभिलाषा बिना तप होना मुशकिल है, तैसेही लब्धियां भी प्राप्त होनी मुशकिल है। और निरीहित तपस्वियों के विषय में किसी प्रकार की लब्धि या आत्मशक्ति प्रगट होने की किंवदंति सुनने में आती है, परन्तु अफ़सोस के साथ

कहना पड़ता है कि अपनी समाज में ऐतिहासिक लेख लिखने की प्रथा बहुत कम है, अतः सुनी सुनाई बातों को निश्चय के रूप में लिखना ठीक नहीं है।

(१९.) सच्चे तपस्वियों को यदि कभी छद्मस्थ की लहर अभिमान आदि आजावे तो विचारते हैं कि—जो शक्ति तप करने की चतुर्थ काल में थी और वे जीवित की आशा छोड़कर जैसा उग्र तप करते थे, वैसा तप मेरे से कहां होता है, वैसे शुद्ध और स्थिर परिणाम मेरे कहाँ रहते हैं, जो मैं इस यत् किंचित् तप पर अभिमान करूं और इसके फलको गमावूँ।

(२०) आत्मन्! प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ देव भगवंत को देखिये कि जिनको पूरे बारह मास तक आहार पाणी का बिलकुल ही जोग नहीं बना, परन्तु किंचित् ही प्रणाम नहीं डुलाये। और इन्हीं के पुत्र श्री बाहूबल मुनिराज, एकसे बारह महीने तक ध्यान में ही खड़े रहे और चौवीसत्रें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी ने बारह वर्ष और छः महीने में फक़्त छुटक छुटक ग्यारह महीने और १९ दिन ही आहार किया! तैसे ही और भी बहुत से मुनिराज छः मासी, पांच मासी, चौमासी, त्रिमासी, द्विमासी, तथा निरंतर मास क्षमन के पारणे पक्ष पक्ष के पारणे आदि का तप करते थे और वे समस्त समय एकान्त ज्ञान ध्यान में लीन हो गुज़ारते थे।

(२१) काकन्दी नगरी के धन्ना सेठ, ३२ क्रोड़ सोनैयों के धन को और ३२ सुन्दर स्त्रियों को त्याग कर साधू बने और निरंतर बेले बेले तप करना शुरू किया। पारने में ऐसा आहार लिया कि जिसकी कोई भिखारी भी इच्छा नहीं करे। ऐसे दुक्कर तपसे आठ महीने में ही जिनके शरीर का सब रक्त मांस सूख गया। पांव सूखे वृक्षकी छाल जैसे, पगकी अंगुली सूखी हुई मूंग मशूर की फली जैसी, पगकी पीदी काग पक्षी की जंघा जैसी, गोड़े काग जंघा वनस्पति की गांठ जैसी, सॉंथल बोरी वृक्ष की कूंपलों जैसी, कमर बूढे बैल के पग जैसे, पेट चमड़े की सूखी मशक जैसा, पाँसलियां काँच के ढेर जैसी अलग दीखें, पीठ घड़े जैसी, छाती

पत्ते के पङ्ख जैसी, बाहु अगथिये की सूखी फली जैसी, हथेली सूखे हुये वड़ पीपल के पत्ते जैसी, हस्तांगुली सूखी मूंग उड़द की फली जैसी, ग्रीवा घड़े एवं कमंडल के गले जैसी, ठोडी सूखी हुई आम्बी की कतली जसी, होंठ सूखी इमली जैसे, जिह्वा पालस [खांकरे] के पत्ते जैसी, नाक सूखी आम्ब की गुठली जैसी, आंख वीणा के छिद्र जैसी, कान प्याज [कांदे] के पत्ते जैसे, मस्तक सूखे हुये तुम्बे के फल जैसा—इस तरह का सब शरीर सूख कर होगया था—फक़्त अस्थियों का पिंजर चमड़े से वींटा हुआ था। ज्यों कोयलों का भरा हुआ गाडा चलते समय खड़खड़ आवाज करता है, त्यों चलते हुये उनके शरीर में से हड्डियों की आवाज निकलती थी। शारीरिक शक्ति तो बिलकुल कम होगई थी, फक़्त मनोबल से ही संयम का कार्य करते थे। इसी लिये भगवंत श्री महावीर स्वामी ने श्रेणिक राजा के संमुख चौदह हज़ार साधुओं में दुकर करणी और महा निर्जरा के करने वाले कहे हैं। यह मुनि एकमास का संथारा करके स्वार्थ सिद्ध विमान में पधारे हैं।

(२२) जैसे तपश्चर्या करके धन्नाजी ने शरीर प्राप्त करने का लाभ उठाया, तैसा ही और नौ मुनिवरों का अधिकार अनुत्तरोववाईसूत्र में है। और दुकर तपश्चर्या करने वाले खन्धक मुनिवर आदि का अधिकार भगवती जी प्रमुख सूत्रों में चला है। उन महात्माओं ने इस शरीर को एक उधारा लाया हुवा भाजन समझ लिया था। जैसे कोई सीरा प्रमुख पक्वान्न बनाने के लिये कढ़ाई नामक भाजन लाते हैं, और जिस काम के वास्ते लाते हैं वह काम उससे निपजालेते हैं तो वापिस लौटाते समय बिलकुल ही पश्चाताप नहीं करना पड़ता है, और जो उस कढ़ाई को मांज धोकर साफ रखते हैं, और "कढ़ाई जल जायगी"—इस डरसे भट्टी पर नहीं चढ़ाते हैं वे कढ़ाई उसके मालिक को देती वक़्त पश्चात्ताप करते हैं। इस दृष्टान्त के अनुसार यह शरीर भी धर्म कामार्थ उधार लाई हुई कढ़ाई है। इसे खिला पिला कर पोषते हैं, और तप धर्म करने में दुर्बल होजाने का विचार करते हैं, वे मरते वक़्त पश्चात्ताप करते हैं कि कुछ नहीं किया। परन्तु फिर पश्चाताप किया क्या काम आवे! ऐसा जानकर वे मुनिवर-

इस शरीर रूप कढ़ाई को, निश्चय व्यवहार रूप दोनों ठिये (भींत) वाली भट्ठी पर चढ़ाकर, कर्म रूप इंधन में तप रूप अग्नि लगाकर, धर्म संयम रूप पक्वान्न निपजा लेते हैं, उनको मरती वक्त बिलकुल ही पश्चात्ताप नहीं होता है। वे समाधि मरण करके स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त करते हैं।

(२३) ऐसे महान तपस्वी सदेह होते हुये भी विदेह अवस्था को प्राप्त होजाते हैं। अर्थात्—जैसे पक्वान्न बनाने वाला कढ़ाई जलने की तरफ नहीं देखता है, परन्तु अन्दर के मालको सुधारने की तरफ ही उसकी दृष्टि रहती है, क्यों कि कढ़ाई जले बिना पक्वान्न होता ही नहीं है, तैसे ही देहको कष्ट दिये बिना तप निपजताही नहीं है। दशवैकालिक सूत्र के अष्टम अध्याय का फरमान है कि—"देह दुक्खं महा फलं" अर्थात् धर्मार्थ देह को दुःख देने में महालाभ होता है। ऐसे वचनों का अवलम्बन कर, वे महात्मा तपस्वी, शारीरिक निर्बलता से मनको निर्बल नहीं होने देते थे। ज्यों-ज्यों ज़्यादा कष्ट पड़ता था, त्यों त्यों ज़्यादा ज़्यादा लाभ का कारण जान कर उत्साह बढ़ाते ही रहते थे।

(२४) जैसे लोभी बनिये की दुकान पर ग्राहकों का विशेष आगमन होने पर गरदी मचती है, तब वह बनिया भूख प्यास शीत ताप थाक आदि सब दुःखों को भूल कर ग्राहकों की तरफ से होते वाक्य प्रहारों को समभाव से सहन करता हुआ, उनको मधुर वचनों से संतुष्ट करता हुआ, इच्छित नफे के साथ माल बेचकर उन्हें रवाना करता है; तैसे ही तपेश्वरी जी शरीर रूप दुकान में उदय आये कर्म ग्राहकों की तरफ से उत्पन्न होने वाले परिसहों को समभाव से सहते हुये, क्षुधा—तृषा आदि तपसे होते हुये दुःखों की तरफ बिलकुल ही लक्ष्य नहीं रखते हैं। संवर निर्जरा रूप महा नफे के साथ, आयुष्य रूप माल, उनको देकर रवाने करते हुये परमानन्द परम सुख मानते हैं।

(२५) ऐसे समभाव से उत्सुकता युक्त किया हुआ थोड़ा भी तप, महा निर्जरा का कर्ता होता है। ग्रन्थकारका फरमान है कि—जितने कर्म नरक वासी जीव सौ वर्ष तक दुःख भोगकर खपाते हैं, उतने कर्म, ज्ञान सहित एक पोरसी के तप करने वाले खपा देते हैं। चउत्थ भक्त एक

उपवास से एक हज़ार वर्ष जितने, छठ भक्त–वेला करने से लक्ष वर्ष जितने, अष्टम भक्त—तेला करने से क्रोड़ वर्ष जितने, दशम भक्त–चौला करने से क्रोड़ा कोड़ वर्ष जितने, कर्म क्षय होते हैं। * यों आगे भी तप के फल का परिमाण जानना।

(२६) यह तो द्रव्य निर्जरा रूप फल, तप के प्रति मनको आकर्षित करने के लिये कहा है, परन्तु उत्तराध्ययनजी शास्त्र के नवमें अध्याय में श्री नमीरायऋषि ने शक्रेन्द्रसे फरमाया है—

मासे मासे तु जो बाले, कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खायस्स धम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥ ४४ ॥

अर्थात्–मिथ्यात्वी अज्ञानी निरंतर मास मास क्षमन तप करे और पारणे में कुसाग्रपर (डाभ की अणी ऊपर) आवे उतना ही आहार करे, किन्तु वह ज्ञानयुक्त एक नवकारसी (दोघड़ी के) तप के सोलवें हिस्से में भी फल का दाता नहीं होता है। देखये, ज्ञानयुक्त अल्प तप से भी कैसा महान लाभ होता है !

२७ और भी ग्रन्थकार फरमाते हैं किः—

साठिवाससहस्सा , तिसत्त खुतो दयणं धोएण ,
अणुविन्न तामलीणा, अनाण तवुत्ति अप्पफलो ॥ १ ॥
तामलित्तण इतवेणं, जिणमइ सिझेइ अन्न सत्तजणं ,
ए अन्नाण वसेणं, तामलि ईसाणिंद गओ ॥ २ ॥

अर्थात्–तामली नामक तापस ने साठ हज़ार वर्ष में मात्र सैंतीस बार मुख धोकर अन्न पाणी लिया, ऐसे अज्ञान तप के प्रभाव से वह फक्त दूसरे देवलोक का इन्द्र ही हुवा। जितना तप तामली तापस ने किया, इतना तप जो कभी जिनाज्ञा सहित करें तो सात जीव मोक्ष प्राप्त करें। देखिये, सज्ञान और अज्ञान तप में कितना अंतर है ? अज्ञान तपतो

---

* *अटम भत्ते कोडी , कोडा कोडीये दशम भत्ते मि*
अजांपरं चह निज्जरे हेड नूणं तवो भणिओ ॥ १ ॥

यह गाथा जिन हर्षजी कृत वीस स्थान के रास में की है।

जीवने अनंती बार किया और उसके प्रभाव से नवग्रीवेक तक हो आया, परन्तु कुछ ग़रज़ सरी नहीं। ज्ञानयुक्त तप करने का मौका हाथ लगना बहुत मुशकिल है, इसलिये इस मौके को प्राप्त होकर के अहो आत्मा! अब तप करने में प्रमाद नहीं करना चाहिये। ऐसा जानकर तपस्वीजी महात्मा यथा शक्ति तप करके लाभ उठाते हैं,

(२८) यथार्थ रूप से संपूर्ण तप का फल तो उसीको प्राप्त होता है कि जो तप करके निदान (उसके फल की वांछा नियाणा) नहीं करता है। अनुयोग द्वार सूत्र में नव प्रकार के निदान फरमाये हैं:-(१) तपेश्वरी सो राजेश्वरी " इस कहावत के अनुसार कोई तप के फल के बदले में नियाणा करे कि मुझे राज मिलो (२) कोई विचारे कि राजा को राज्य के निर्वाह करने की बड़ी विपत्ति भोगनी पड़ती है, इसलिये मुझे ऋद्धिवंत सेठ का पद मिलो (३) कोई विचारे कि-सेठ को तो व्यापार आदि में महा कष्ट उठाना पड़ता है, इसलिये स्त्री का पद मिलो कि घरमें बैठी बैठी आनंद करूं (४) कोई विचारे कि स्त्री के जन्म में तो पराधीनता भोगनी पड़ती है, मुझे तो पुरुष पना मिलो, (५) कोई विचारे कि मनुष्यका शरीर तो अपवित्र है, इसलिये मुझे बहुरत्ता * देवता का पद मिलो (६) कोई विचारे कि देवताओं में अभोगिक पना आदि कई प्रकार के दुःख हैं, मुझे तो बहुरत्ता देवी का पद मिलो। ये छः प्रकार के निदान करने वाले × दुर्लभ बोधि होते हैं (७) कोई विचारे कि विषय भोग तो महा दुःख के देने वाले हैं, इस लिये अरत्ता जहां भोग की इच्छा नहीं होवे ऐसे नवग्रैवेक आदि स्थानों में देवता होऊँ (८) कोई विचारे कि देवताओं में तो व्रत प्रत्याख्यान या साधु जी को दान देने का योग

* बहुरत्ता के तीन भेद हैं—१ देवता और देवांगना आपस मे विषय लुब्ध हो भोग भोगवे २ दो देवता या दो देवियां एक स्त्री का और एक पुरुष का रूप बनाकर आपस मे भोग भोगवे ३ एकही देवता या देवी अपने दो रूप (स्त्री और पुरुष के) बनाकर भोग भोगवे। इस प्रकार के देवता या देवी बहुरत्ता कहे जाते है।

× आगे को बहुत काल तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होवे, वह दुर्लभ बोधि।

नहीं बनता है, इस लिये किसी श्रीमंत धर्मात्मा श्रावक के घर जन्म धारण करूं कि जिससे व्रत ग्रहण करूँ तथा सुपात्र को खूब दान देकर लाभ लूटूं (९.) कोई विचारे कि श्रीमंत धनेश्वरी के घर जन्म लिया तो विषय भोग में गर्क होजाऊंगा एवं कुटुम्ब आदि के मोह में पड़ जाऊंगा—फलतः साधु पणा नहीं ले सकूंगा ! इसलिये दरिद्री श्रावक के घर जन्म लेवूं कि जिससे मुझे चारित्र धर्म की प्राप्ति होवे। ये पीछे कहे हुये तीन प्रकार के नियाणे करने वाले को सम्यकत्व, श्रावक पना और साधु पना की तो प्राप्ति हो जायगी, परन्तु मोक्ष नहीं मिलेगी।

और भी नियाणे दो प्रकार के होते हैं—भवप्रत्येक और वस्तु प्रत्येक। (१) भव प्रत्येक वह है जो संपूर्ण जन्म तक चलने वाली वस्तु का नियाणा करे। उसको सम्यकत्व की प्राप्ति तो होजाती है, परन्तु संयम नहीं आता। जैसे गत जन्म में कृष्ण जी ने वासुदेव की पदवी प्राप्त होने का निदान किया था, अतः वासुदेव होने पर उनको सम्यकत्व की तो प्राप्ति हुई, परन्तु चारित्र नहीं ले सके। और वस्तु प्रत्येक वह है कि मुझे अमुक वस्तु मिले। उसे जब तक उस वस्तु का संयोग नहीं मिले तब तक सम्यकत्व की प्राप्ति नहीं होवे। जैसे द्रोपदी जी को पांच पति वर-लेने के पश्चात् सम्यकत्व की प्राप्ति हुई।

दिव्यभोगोभिलाषेण, कालांतर परिक्षयात्।
स्वादिष्टफल संपूर्ते, गरलानुष्ठानमुच्यते ॥

अर्थात्—जो परभव में देवेंद्रादि दिव्य भोगों की प्राप्ति की इच्छा से तपश्चर्या आदि क्रिया की जाती है, उसे गरल अनुष्ठान कहते हैं। भाव यह है कि जैसे सर्प नामक ज़हरी जानवर की गरल का भक्षण करने से बहुत दिनों तक कष्ट भोग कर मरना पड़ता है, तैसे ही उपरोक्त अनुष्ठान दुःख दाता होता है।

सारांश यह है कि—निदान रूप से श्रेष्ठ से श्रेष्ठ भी भाव अच्छा नहीं होता। तीर्थंकर पद की प्राप्ति का तथा चरम शरीरी होने का भी नियाणा नहीं करना चाहिये, जैन शास्त्र तो मोक्ष की भी अभिलाषा करने का निषेध करते हैं, परन्तु भावना बल की दुर्बलता वाले से यह होना मुशकिल है।

और मोक्ष की इच्छा है सो निरामय एवं अपौद्गलिक है, इस लिये निर्दोष गिनी जाती है। ऐसा नियाणा रहित निरभिलाष तपही, निर्जरा रूप महा फल का दाता होता है।

(२९) भव्यों ! कुछ आहार का त्याग कर भूखे मरने को ही भगवंतने तप नहीं फरमाया है। शास्त्र में तो दो प्रकार के तप फरमाये हैं, बाह्य तप और अभ्यंतर तप। (१) बाह्य तप वह है जो नित्य नैमित्तिक क्रियाओं में इच्छा के निरोध से साधन किया जाता है और बाहिर में प्रत्यक्षतः प्रतिभासित होता है। इसके छः भेद हैं—(१) अन्न पाणी स्वादिम खादिम—इन चारों ही आहार का स्वल्प काल या विशेष काल जाव जीव तक त्याग करना सो अनशन तप है। इससे रागादि शत्रु जीते जाते है, कर्मों का क्षय होता है, और ध्यान की प्राप्ति होती है (२) भूख हो उस से कम आहार करना और भंडोपकरण उपधि कम करना, उणोदरी तप है। इससे निद्रा आदि दोषों का नाश होता है, संतोष और स्वाध्याय आदि गुणों की वृद्धि होती है, (३) चाहती वस्तु, निर्दोष वृत्ति से दातार की दी हुई ग्रहण करना, भिक्षाचरी तप है। इससे व्याधि से बचाव होता है, और निरारंभादि व्रत का पालन होता है (४) दूध, दही, घृत, तेल, मिष्टान्न, क्षार इत्यादि रसों के त्याग को रस परित्याग तप कहते है। इससे इन्द्रियों का दमन, आलस्य आदि दोषों का शमन, और स्वाध्याय आदि क्रियाएँ सुख से होती हैं (५) शीत ताप आदि दुःखों को अतीव समभाव के साथ सहना कायक्लेश तप है। इस से अभिलाषा क्षीण होती है, राग भाव का अभाव होता है, और कष्ट से अडिग रह कर सहन शीलता का अभ्यास होता है। और (६) इन्द्रियों कषायों और योगों की वृत्तियों का संक्षेप करना प्रतिसंलीनता तप है। इससे आशाका विनाश होता है—तपस्वी परमानन्दी बनता है। ये छः बाह्य तप हुये। अब दूसरे अभ्यंतर तपका वर्णन करते हैं। अंतरङ्ग मन के निग्रह से साधा जावे और दूसरों की दृष्टि में नहीं आवे सो अभ्यंतर तप है। इसके भी छः भेद हैं—(१) दो प्रकार से विनय करे—एक तो "मुख्य" जो सम्यक् ज्ञान आदि त्रिरत्न को बहुत आदर पूर्वक धारण

करे और दूसरा "उपचरित"—जो त्रिरत्न के धारक आचार्य उपाध्याय साधु आदिकों का बहुमान पूर्वक गुणानुवाद एवं नमस्कार करे, वह विनय तप है। इससे मान कषाय नष्ट होता है तथा ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति होती है। (२) दो प्रकार से वैयाव्रत्य करे—एक तो "कायिक भक्ति" हाथ पैर पीठ आदि दाबे और दूसरी "परवस्तु भक्ति" आहार वस्त्र औषध आदि निर्दोष लाकर दे, सो वैयावृत तप है। इससे धर्मादि सद्गुणों के सद्राग की वृद्धि होती है, और मान कषाय का नाश होता है (३) दूषित हुये आत्मा को प्रतिक्रमण आदि क्रिया के द्वारा पवित्र करना सो प्रायश्चित तप। इस से व्रतों की शुद्धि होती है, आत्मा निशल्य होती है, और कषायों की क्षीणता होती है (४) सर्व उपाधिका त्याग करके निश्चल वृत्ति धारण करे सो ध्यान तप। इस से मन वशीभूत होकर प्रणामों की अनुकूलता होती है एवं अक्षय आत्मानन्द की प्राप्ति होती है, (५) प्रमाद का त्याग करके श्रद्धा युक्त जैन सिद्धान्तों का पठन करना सो स्वाध्याय तप। इस से बुद्धि की स्फूर्ति होती है एवं प्रणामों की उज्वलता होती है, (६) बाह्य द्रव्य पदार्थों से और आभ्यन्तर कषाय वृत्ति से निवृत्त होना सो व्युत्सर्ग तप है। इस से निर्भय पदकी प्राप्ति होने से मोहका क्षय होता है, जिससे परमानन्द की प्राप्ति होती है। ये छः प्रकार से बाह्य और छः प्रकार से अभ्यन्तर दोनों मिलकर बारह प्रकार का तप, तपस्वीजी करते हैं।

(३०) उपरोक्त प्रकार से दो या बारह प्रकार का तप करने वाले तपस्वीराज महाराजाधिराज, कर्मवृन्द को जड़ा मूलसे क्षय करके परमात्म मार्ग पर गमन करते हैं, और स्वल्प काल में ही परमात्म पद प्राप्त करते हैं।

—जिनाज्ञा पुरस्कृत्य, प्रवृत्तं चित्तशुद्धितः।
संवेगगर्भमत्यन्तममृतं तद्विदो विदुः॥

अर्थात्—श्री जिनेश्वर की आज्ञा के अनुसार त्रिशल्य रहित होकर एवं निर्मल मनसे संवेग वैराग्य में अत्यन्त लीन होकर जो क्रिया की जाती है उसे अमृत अनुष्ठान कहते हैं। सारांश यह है कि अनुष्ठान ही मोह आदि कर्म रूप जहर का नाशकर शिव सुखरूप अमृत का दाता होता है।

(३१) ऐसे तपस्वी महात्माओं के गुणानुवाद करने वालों को

भी सद्गुणों के अनुरागी होने से महान् पुण्य फल की प्राप्ति होती है, जिससे ये परमात्म पद प्राप्त करते हैं। ऐसे तपस्वी जी के गुणानुवाद मोक्ष फल दायक हैं।

ऐसे तपस्वी भगवंत चतुर्विध संघ के पूजनीय होते हैं, अस्तु चतुर्विध संघ का गुणानुवाद करने से पहिले तपस्वी जी भगवंत को त्रि-करण त्रियोग की विशुद्धि से नमस्कार करता हूँ।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "तपस्वी
गुणानुवाद" नामक सप्तम प्रकरण समाप्त।

प्रकरण–आठवाँ

"संघवत्सलता"
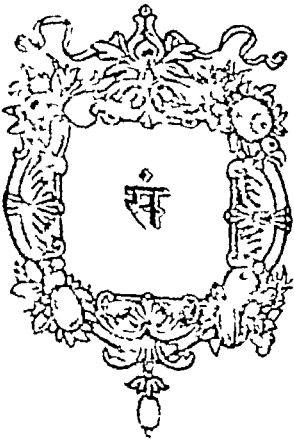
संघ नाम समूह का है। अर्थात् बहुत से जन एकत्र होवें उसे संघ कहते हैं। अस्तु यहां साधु–साध्वी–श्रावक–श्राविका इनको संघ नाम से संबोधित किया है। और वत्स नाम गौ के पुत्र का है–अर्थात् जैसे गाय अपने बछड़े पर पूर्ण प्रीति रखके उसकी पोषणा करती है, तैसे ही जो महान् प्राणी उपरोक्त चतुर्विध संघ की भक्ति करते हैं, उसे संघ वत्सलता कहते हैं।

संघका दूसरा नाम तीर्थ भी है। "तीर" का अर्थ तट है और "थ" का अर्थ है स्थित होना अर्थात् जो संसार रूप समुद्र के किनारे पर खड़े हैं ऐसे साधु–साध्वी–श्रावक–श्राविका तीर्थ भी कहे जाते हैं।

ऐसे जो उत्तम प्राणी हैं, जो संसार समुद्र का पार पाकर किनारे पर आये हुये हैं–थोड़े ही काल में मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं–ऐसों की वत्सलता अर्थात् सेवा भक्ति करना, सो संसार का किनारा प्राप्त करने

वाला जो परमात्म पद है, उसकी प्राप्ति का मुख्य हेतु है। इस लिये संसार पारार्थी जीवों को इन चारों ही संघ के गुणों का जानकार होना और उन गुणज्ञों की भक्ति करना चाहिये। "अपने तो गुणवंत की पूजा निर्गुणों को पूजे वह पंथही दूजा"-इसलिये प्रथम चारही तीर्थ के गुण दर्शा कर, फिर उनकी भक्ति करने की विधि दर्शाना चाहता हूँ।

(१) साधु। साधु शब्द के पर्याय वाची शब्द जैन शास्त्र में अनेक हैं। जैसे-समण, माहण, भिक्खू, निर्ग्रन्थ, मुनि, परिव्राजक, संयति, ऋषि, अनगार, अतिथि आदि आदि। तैसेही अन्य मतावलम्बी भी साधू को अनेक नामों से संबोधित करते हैं। जैसे-संन्यासी, वैरागी, अतिथि, गोसाई, दुर्वेश, फकीर आदि आदि। परन्तु कोरे नाम धारण करने से ही कुछ गरज नहीं सरती है—पूरी होती है, नाम जैसे गुण भी तो होने चाहिये। (१) जो क्रोध मान माया लोभ आदि दुर्गुणों का शमन करते हैं, वे समण कहे जाते हैं। (२) पृथिवी आदि छः काय के जीवों को जो स्वतः नहीं मारते हैं और दूसरों को माहणो मत मारो-मतमारो, का उपदेश करते हैं वे माहण कहे जाते हैं। (३) जो कर्मों को डराते है या निर्वद्य (किसी को किंचित मात्र भी दुःख न होवे ऐसी विधि से) भिक्षा वृत्ति से आहार वस्त्र, आदि ग्रहण करके अपना निर्वाह करते हैं वे भिक्षु कहे जाते हैं, (४) जो द्रव्य से धातु रूप परिग्रह की और भावसे ममत्व रूप परिग्रह की ग्रन्थि बांधने से निवृत्त हुये हैं वे निग्रन्थ कहेजाते हैं, (५) जो पापकार्योत्पादक भाषा नहीं बोलते हैं—और मतलब से ज़्यादा नहीं बोलते हुये अधिक तर मौन रखते हैं वे मुनि कहे जाते हैं। (६) संसार के सर्व कार्यों से निवृत्त होकर अपने शरीर को धर्मार्थ अर्पण कर देते हैं वे परिव्राजक कहलाते हैं। (७) जो यम अहिंसादि व्रतों को स्वेच्छा से पालन करते हैं और इन्द्रियों के विकारों को जीतते हैं वे संयती हैं (८) जो स्वात्मा और परात्मा का रक्षण करते है वे ऋषि हैं (९) जो घर रहित अनियत वासी है वे अनगार है। (१०) जो अचानक यानी विना किसी तिथि वार की मर्यादा के भिक्षा को आते हैं वे अतिथि हैं। (११) सबसे श्रेष्ठ व्रत धारी तथा आत्माका मोक्षार्थ साधन

करने वाले साधु हैं। तैसे ही जो काम क्रोध मद मोह लोभ और मत्सर इन छः वैरियों को मारता है, वह सन्यासी। राग द्वेष विषय कषाय से विरक्त हो, वह वैरागी। दुनियां के कामों से दूर रहे, वह दुर्वेश। और फ़िकर के फाके करे अर्थात् दुनियां के जाल में नहीं फँसे, वह फकीर। इत्यादि नामों के अनुसार जिन में गुण हों वेही सच्चे साधू जानने।

साधूजी महाराज सत्ताईस गुणों के धारक होते हैं:-पांच महाव्रत पालें, पांच इन्द्रिय जीतें, चार कषाय टालें, इन चौदह गुणों का वर्णन तो गुरूगुणानुवाद नामक चौथे प्रकरण में किया जाचुका है। और (१५) मनका स्वभाव अतिचंचल है—कुमार्ग में अधिक प्रवृत्ति करता है, उसे रोककर सुमार्ग में लगावे—धर्म ध्यान में रमावे सो "मन समाधारणिया" (१६) पाप मार्ग में प्रवर्तते हुये वचन को रोक कर धर्मोपदेश आदि शुभ कार्य में प्रवर्तावे सो "वय समाधारणिया" (१७) धर्म कार्यों के साधन की मुख्य साहायक काया है, इसे तप संयम परोपकार आदि शुभ कार्यों में लगावे सो "काय समाधारणिया" (यह तीन समाधि युक्त) (१८) अंतः करण के परिणाम सदा सरल एवं धर्म वृद्धि के कार्यों में वीरता युक्त रक्खे सो "भाव सच्चे" (१९) शरीर आदि सम्बन्ध के कारण क्रिया अवश्य करनी पड़ती है, परन्तु शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार कालोंकाल धर्म क्रिया समाचरे सो "करण सच्चे" (२०) मन वचन काया के योगों को निग्रह करके सत्य मार्ग में रमावे सो "योग सच्चे" (२१) मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान—ये दोनों ज्ञान जिनके निर्मल होवें, और बने वहां तक स्वमत के तथा परमत के शास्त्रोंके प्रखर अभ्यासी होवें सो "नाण संपन्न" (२२) ज्ञानके द्वारा जाने हुये पदार्थों का यथार्थ रूप से श्रद्धान करे एवं शंका आदि दोष रहित प्रवर्ते सो "दर्शन संपन्न" (२३) जो यथार्थ श्रद्धान किया है उस में त्यागने योग्य को त्यागे और आदरने योग्य को आदरे एवं चार गति या चार कषाय से तिरने का उपाय करे सो "चारित्र संपन्न" (२४) प्राप्त हुये उपसर्गों को समभाव के साथ सहन करे—संतप्त नहीं होवे, यदि किसी समय क्रोधका उदय होजाय तो तुरंत उसे शांत करे सो "क्षमावंत" (२५) शुद्ध न्याय मार्ग में

प्रवर्ते एवं सदा वैराग्य भाव रक्खे सो "वैराग्यवंत" (२६) पूर्व कर्मोदय से वेदनीय (दुःख या रोग) की प्राप्ति होवे तो उसे कर्म निर्जरा का अपूर्व अवसर समझकर समभाव से सहन करे सो "वेदनीय समअहियासनिया" (२७) और "मरणांतिसमअहियासणिया" जगत की कहावत है कि "जो मरने से नहीं डरे सो दिल चाहा करे"। अस्तु साधु जी जानते हैं कि जो मृत्यु का नियत समय है, वह कदापि टलने का नहीं। फिर डरने से फायदा ही क्या! और दूसरे डरतो पापी प्राणियों को होता है; क्यों कि उनको पापका बदला देना पड़ेगा। धर्मी जीवों को तो हर्ष * होता है, क्यों कि इस शरीर से जो कुछ अपना प्रयोजन था वह सिद्ध कर लिया, अब यह निःसार शरीर किस काम का। ऐसा जानकर मरणांत समय में समाधि भाव से मरण कर आयुष्य पूर्ण करे।

(२) यह संक्षेप में साधुजी के गुणों का वर्णन कहा है। इसी मुजब साध्वी जी के गुण भी जान लेने। फक़्त स्त्रीलिंग की परवशता के कारण से कितने ही आचार व्यवहार के नियमों में अंतर पड़ता है। जैसे कि—साधु तो विना कारण एक ग्राम में शीत उष्ण काल में एक महीने से ज़्यादा नहीं रहे, और साध्वी जी को दो महीने रहना कल्पता है। ऐसे ही साधु जी को तो ७२ हाथ से ज़्यादा वस्त्र रखना नहीं कल्पे, और साध्वी जी को ९६ हाथ वस्त्र कल्पता है। ऐसे ही साधु तो अप्रतिबन्ध विहारी होते हैं और साध्वी जी को विहार आदि प्रसङ्गों में गृहस्थ की सहायता की जरूरत पड़ती है। इत्यादि अन्तर है, परन्तु जो साधुता के मूल गुण हैं उन में कुछ भी अंतर नहीं समझना।

(३) "श्रावक"। श्रावक शब्द की मूल धातु श्रू है, जिसका अर्थ श्रवण करना यानी सुनना, ऐसा होता है। अर्थात् जो धर्म शास्त्र का श्रवण करे सो श्रावक। दूसरे प्रकार से भी श्रावक शब्द के तीनों अक्षरों का भिन्न भिन्न अर्थ होता है। "श्र" का अर्थ श्रद्धावंत है। अर्थात् निग्रन्थ प्रवचनों पर पूर्ण आस्ता रक्खे—तहमेव सत्य श्रद्धे एवं दानव मानव

---

* —मरने से जग डरत है, मुझ मन अधिक आनन्द।
कब मरेंगे कब भेटेंगें, पूरण परमानन्द॥

किसी का भी चलाया हुआ धर्म मार्ग से चले नहीं—अधर्म मार्ग अंगीकार करे नहीं। जैन धर्म के प्रति अपना तन मन धन, अर्पण करदे। "वि" का अर्थ विवेकवंत होता है। अर्थात् जैसे व्यापारी लोग ग्राहकों की भीड़ में भी नफा उपार्जन करने का औसान नहीं भूलते हैं, तैसे ही श्रावक भी संसार के हरएक कार्य करते हुये पापसे अपनी आत्मा बचाने रूप नफे के काम को भूलते नहीं हैं। थोड़े पाप से काम निकलता होतो अधिक पाप नहीं करते है। "क" का अर्थ क्रियावंत है। अर्थात् जो क्रियाएँ नित्य नियमित रूपसे करने की है, उन्हें यथा समय सदा करते हैं। जैसे निद्रा आदि प्रमाद दूर करके एक मुहूर्त रात्रि बाकी रहेही जाग्रत हो जाते है तथा दूसरा कोई पापी जीव जाग्रत नहीं होवे इस तरह चुप चाप सामायिक व्रत धारण करलेते है। तथा जब तक प्रतिक्रमण का काल न हो तब तक मनमें विचार करे कि मैं कौन हूं? मेरी कुल जाति क्या है? मेरे देव गुरू कौन हैं? मेरा धर्म क्या है? मेरे कृत्या कृत्य (करने योग्य नहीं करने योग्य) क्या है? आज के दिन मैं कौन कौन से धर्म कृत्य कर सकता हूं? जो जो धर्म कृत्य उस दिन में होने योग्य मालूम होवें उनका अभिग्रह निश्चय करते हैं। फिर समय होने पर यथा विधि प्रतिक्रमण करते हैं तथा पूर्व निश्चित नियम धारण करते हैं। * विशेष नहीं बने तो धर्म पुस्तक का एक पृष्ठ नित्य नया जरूर ही पढ़ते हैं, व्याख्यान बचता हो तो अवश्य श्रवण करते हैं। सामायिक पूर्ण होने पर माता, पिता, बड़े भाई भोजाई (भाभी) आदि जो वयोवृद्ध एवं गुणवृद्ध होवें उनको यथोचित नमस्कार करते हैं, पांव लगते हैं, सुख शांति पूछते हैं। फिर अन्य कुटुम्बादि को मधुर वचनों से संतोष उपजाते है। लघुनीति (पेशाब)

---

* १ सजीव वस्तु, २ निर्जीव वस्तु, ३ विगय ४ जूता ५ तम्बोल ६ सूंघने की वस्तु ७ वस्त्र ८ वाहन ९ सेजा—बिछौना १० विलेपन ११ कुशील १२ दिशामें गमन १३ स्नान १४ आहार १५ मिट्टी १६ पाणी १७ अग्नि १८ हवा १९ वनस्पति २० हथियार २१ व्यापार २२ कृषि कर्म इन २३ बोलों में से आज अमुक काम नहीं करूंगा। या करूँगा तो इतने प्रमाण से अधिक नहीं करूंगा। ऐसा नियम सदा करते हैं।

बड़ी नीत (दिशा-झाड़े) के खटके से निवृत्त होना हो तो जहांतक प्रासुक निर्जीव जगह मिले वहांतक पाखाने में या मोरी पर नहीं जाते हैं। हरी लकड़ी से एवं सचित्त वस्तु से दाँतन नहीं करते हैं। स्नान भी पोली फटी जमीन पर एवं नाली में–मोरी में पानी जावे ऐसे स्थान पर नहीं करते हैं, ज़्यादा पाणी नहीं ढोलते है। तेल चंदन आदि विशेष नहीं लगाते हैं। चाय, काफी, चिलम, बीड़ी, भंग आदि किसी भी प्रकार का व्यसन नहीं लगाते हैं, क्यों कि ये पदार्थ शरीर और बुद्धि की हानि करने वाले होते हैं। प्रहर दिन आये पहिले भोजन नहीं करे। ३२ अनंत काय २२ अभक्ष तथा निन्दनीय वस्तुओं का भोजन नहीं करते हैं। भोजन पकाते समय त्रस जीव की घात न होवे, इसलिये कोई भी वस्तु विना देखी उपयोग में नहीं लेते हैं। भोजन तैयार होने पर साधु साध्वी का योग होवे तो अत्यन्त उत्साह भाव से यथा विधि प्रतिलाभते हैं, और शक्तिवंत होवें तो स्वधर्मी श्रावकों को भक्ति भाव पूर्वक अपने बराबर भोजन कराते हैं। और भी अनाथ अंगहीन ग़रीबों को यथा शक्ति साता उपजाते हैं। तांबूल सुपारी आदि का विशेष सेवन नहीं करते हैं। और व्यापार में भी बहुत यत्ना रखते है। अयोग्य, बहुत हिंसक, निन्दनीय, जातिविरुद्ध, राजविरुद्ध व्यापार नहीं करते है। व्यापार में लाभ की मर्यादा बाँधते है कि एक रुपये पर आने से अधिक नफा नहीं लेवूँगा। इससे पैठ–परतीत जमती है। नियमित लाभ होने पर तृष्णा नहीं बढ़ाते है। व्यापार के लाभ में धर्म का भी हिस्सा रखते हैं। धर्म-भाग, पंच-भाग, एवं राज-भाग छुपाते नहीं हैं। दग़ाबाजी ठगाई नहीं करते है। और क़साई आदिक हिंसक लोगों के साथ लेन देन नहीं करते हैं। पर्व आदि तिथि को व्यापार एवं अन्य आरंभ का काम छोड़कर पोषा तथा दया करते हैं पिछला पहर दिन रहे व्यापार बंद कर के भोजन पान से निवृत्त होजाते हैं। रात्रि को बनेतो चारोंही आहार त्यागते हैं, नहीं तो पाणी उपरान्त कुछ भोगते नहीं हैं, क्योंकि रात्रि भोजन महापाप का कारण है। सन्ध्या समय सामायिक प्रतिक्रमण करते हैं, फिर दिवस में किये कार्यों का चिन्तन करके (हिशाव आदि कर) निवृत्त होते है। शयन स्थान को

विकार उत्पन्न करने वाले चित्र आदि से नहीं श्रृंगारते है, परन्तु हित शिक्षण देनेवाले संक्षिप्त लेखों के तखते लगाये रखते हैं कि जो विशेष कुमार्ग में जाते हुये मनको रोके रक्खें। स्वस्त्री के साथ भी विशेष अमर्यादित यानि विशेष विषयासक्त होना बड़ा हानि कारक समझते हैं, वीर्य का जितना रक्षण हो उतनाही सुखदाई समझते हैं। ज़्यादा इच्छा नहीं रुके तो छः परवी वग़ैरह धर्म पर्वों में अवश्य ब्रह्मचर्य पालते हैं, और अन्य रात्रियों को भी एक वक़्त से ज़्यादा विषय सेवन नहीं करते हैं। स्त्री की शय्या में निद्रस्थ नहीं होते हैं, निद्रा के पहिले जिनस्तवन मंगलीक आदि स्मरण करके सोते है कि जिससे शांत निद्रा आती है। इत्यादि जो नित्य नियमित क्रियाएँ करते हैं वे श्रावक कहे जाते है।

ऐसे श्रावकजी इक्कीस गुणों के धारी होते हैं सो कहते है:—

(१) "अखुद्दो" क्षुद्र भाव से रहित होवें। सर्व प्रथम गुण तो जिनेश्वर भगवंत ने प्रकृतियों को सरल बनाने का ही फरमाया है। अनन्तानुबन्धी आदि प्रकृति का क्षय एवं क्षयोपशम होने से जिनके स्वभाव में से क्षुद्रपणा—तुच्छपणा—नीचपणा—स्वाभाविक ही निकल गया हो, वे सच्चे श्रावक है। अपराधी का भी बुरा नहीं चिन्तवें तो दूसरों का कहना ही क्या ? सब के हित कर्ता होवें, और हरेक कार्य दीर्घ विचार से करने वाले होवें।

(२) "रूपवत" रूपवंत होवें। यह बात कुछ अपने अधीनता की नहीं है, परन्तु जो जीव पूर्व जन्म में पुण्य का संचय करके आते है, वेही श्रावक के घर अवतार लेते हैं, वे स्वाभाविक रूपवंत होते हैं। कहा है कि—"यत्राकृतिस्तत्रा गुणा वसन्ति" अर्थात् जिनका रूप सुन्दर होता है उनके गुण भी बहुत करके अच्छे ही होते है। परन्तु यहां ऐसा नहीं समझना कि रूप हीन को धर्म ग्रहण नहीं करना, धर्म को तो सबही ग्रहण कर सकते हैं। और धर्म भी सब को ही सुख का कर्ता होता है। यहां तो मात्र व्यावहारिक शोभा के लिये कहा है।

(३) "पगइसोमो" प्रकृति का शीतल होवे। अर्थात् "रूपे रूड़ा गुण बाइरा रोहिड़ा का फूल" इस मारवाड़ी कहावत के अनुसार गुणों के

विना रूपवंत शोभता नहीं है। इस लिये जैसा रूप सौम्य होवे वैसा अंतःकरण भी स्वभाव से ही शीतल होना चाहिये। क्योंकि क्षमा गुण ही अन्य सब सद्गुणों को धारण कर सकता है, शीतल स्वभावसे सब जीव निडर रहते है, विश्वसनीय होता है, और उनके सम्बन्ध से अनेक प्राणी सद्बोध आदि प्रसंग को प्राप्त होकर धर्मात्मा बन सकते है।

(४) "लोगपियाओ" जो शीतल स्वभावी होते हैं, वे सबको प्रिय लगते हैं, यह स्वाभाविक ही है। और श्रावक जन इस लोक परलोक और उभय लोक के विरुद्ध कोई भी कर्तव्य नहीं करते हैं। (१) गुणवंत की या किसी की भी निंदा करना, सरल–भोले–दुर्गुणी इत्यादि का हांसी ठट्ठा करना, जनेश्वरी–धनेश्वरी–गुणवंत–प्रख्यातिवंत इत्यादि महाजनों के प्रति ईर्षा–मत्सरभाव करना, समर्थ होते हुये स्वधर्मियों–जाति भाइयों अनाथों आश्रितों की सहायता नहीं करना, इत्यादि कर्तव्य इस लोक विरुद्ध गिने जाते हैं; सो श्रावक नहीं करते हैं (२) खेती–वाड़ी–सड़क–पुल–गिरनी–वनकटाई आदि महा आरंभ के कर्म करना, तथा इनका ठेका इजारा लेना, कोटवाल आदि की लोगोंको त्रास दायक पदवियाँ लेना, इत्यादि महा हिंसा के कर्मों से इस लोक में तो द्रव्यकी एवं मान महत्व की प्राप्ति होती है, परन्तु आगे के जन्म में नर्कादि दुर्गति में रौरव दुःख भुगत ने पड़ते हैं। इस लिये यह परलोक विरुद्ध कर्म गिने जाते हैं सो भी श्रावक नहीं करते हैं। (३) और दोनों लोक विरुद्ध कर्मो में–सात दुर्व्यसन आदि का सेवन है। जैसे [१] "जूवा" सट्टे का अंक लगाना, नक्की दुवा, तास गंजीफे, शतरंज आदि जितने भी हार जीतके काम हैं वे सब के सब जूवा की गिनती में है। इस व्यसन में पड़ा हुआ प्राणी घरके धनका सत्यानाश करके दिवाला निकाल देता है, चौरी आदिक कुकर्मो से इज्जत गवाँकर राजा और पंचों का गुनहगार होता है एवं नर्क आदि दुर्गति में चला जाता है, [२] जूवा जैसे कुकर्म से उपार्जन किया हुआ हराम का धन सुकृत्य में लगना तो मुशकिल है, इस लिये जुवारी प्रायः अधिकतर मांसाहारी होते है–सो जलचर मच्छादि, थलचर गौ आदि पशु, खेचर पक्षी, इनका मांसका भक्षण करने वाले अंत में ऐसे

निर्दय बन जाते है कि कभी कभी मनुष्यों को मारते हुये भी नहीं अचकचाते हैं। धर्म-विरुद्ध एवं जाति-विरुद्ध कर्म करके इस लोक में इज़्ज़त और विश्वास गवाँकर कुष्ठ, भगंदर आदि भयंकर रोगों के ग्रास होकर, मर कर, नर्कादि दुर्गती में जाते हैं [३] मदिरा के विना मांस का हज़म होना मुशकिल होता है, इसलिये मांसाहारी दारूभी पीता है, और नशेमें बेशुध हो अशुचि में लोटता है, माता भगनी पुत्री से भी संगम कर लेता है, और मिष्ट भोजन में लुब्ध हुआ धन का नाश कर कंगाल बन जाता है, घर में सदा क्लेश मचा रहता है। ऐसे कर्मों से इस भव में इज़्ज़त गवाँकर महादुःख से मरकर नर्कादि कुगति में चला जाता है। [४] मदमस्त हुआ स्वस्त्री मे तृप्ति न होकर भंगी आदि नीचों की झूठ जो वेश्या नामक दमड़े की जोरू है उसका गुलाम बनता है। वह जाति-धर्म-धैर्य तथा बुद्धि और प्रिय शरीर का भी गरमी आदि रोगों से अपना सत्यानाश कर देता है और नरक में जा फौलाद (लोह) की गरम पूतली से आलिंगन करता है [५] ऐसे दुष्ट वेश्या के घर रूप पायखाने के आनंद से ही संतुष्ट नहीं होते, प्रत्युत अपने नीच मन को रमाने के लिये निर्दय कामों में भी शूरत्व बताते हैं। निर्जन वनों और पहाड़ों में निर्माल्य घास फूँस खाकर अपनी उम्मर टेर करने वाले तथा अपने कुटुम्ब में अमन चैन से रहने वाले हिरण शशक आदि अनाथ जीवों को बाण गोली आदि शस्त्रों से मारने वाले, उन्हें आक्रन्द करते देख कर आनन्द मानने वाले इस लोक में कुष्ट आदि भयंकर विमारियों से ग्रस्त होकर नरक में जाते हैं और वहां यम देव इसी तरह उनकी शिकार खेलते हैं [६] चौरी और जारी (परस्त्रीगमन) इन दोनों कामों की तो प्रायः सभी लोग निन्दा करते हैं, परन्तु दुर्व्यसनी तो इनही कामों में आनन्द मानते हैं। जिन्होंने पहलेतो अपने धनका नाश कर एवं प्राणान्त संकट सहकर द्रव्य का संग्रह किया और अब उसे प्राण से भी अधिक प्यारा कर रखा है, उनके घर में अचानक ही चले जाते हैं और गृह स्वामी की ग़फलत में या धोके वाजी से धन हरण कर लाते हैं, जिससे वे धनेश्वरी वेचारे आक्रन्द से विलापात करते हैं, कितनेक तो भय के मारे प्राण भी छोड़ देते हैं।

और वे चोर भी उस धन से सुख नहीं भोग सकते हैं। कहा है कि—"चोर की मां का कोठी में मूँढा" अर्थात् चोर का सब कुटुम्ब सदा चिंता में ही रहता है कि कहीं कर्म प्रगट होजावेंगे तो मारे जावेंगे। और पाप प्रगट होनेपर कारागृह (कैद खाने) के अनेक दुःख भोग कर एवं अकाल में ही मृत्यु पाकर नर्क में जाते हैं और वहां यमों की अनेक त्रास भोगते हैं [७] चोर लोग जार कर्म करने वाले भी होते हैं। जार का सदा दुर्ध्यान रहता है, कार्य साधने के लिये अपने उपकारियों की भी हिंसा करता हुआ अचकचाता नहीं है। उस कामान्ध को इतना भी विचार नहीं होता है कि जो स्त्री अपने पति की ही नहीं हुई वह मेरी कब होगी। और प्यारियोंके हाथों से प्यारों के कतल होने के कई दाखले मौजूद होते हुये भी वह कर्म नहीं त्यागता है और सुजाकादिक बिमारियों से सड़कर अंतमें मरकर नर्कमें वेश्या विलासी की तरह विपत्ति भोगता है। इन सातों दुर्व्यसनों को दोनों लोक विरुद्ध कर्म जानकर, जो श्रावक कदापि नहीं करते हैं वे सर्व लोक के प्रिय होते हैं। और भी दान मान आदि से लोगों के चित्त को अपने तावे में कर जगत् की प्रीति संपादन करते हैं।

(५) "अक्रूरो" लोगोंकी प्रीति वही संपादन करेगा, जिसका चित्त अक्रूर यानी निर्मल होगा। क्योंकि जिनका मन निर्मल होता है, वे सबको निर्मल समझते हैं, जिससे वे छिद्री नहीं होते हैं। छिद्री का सदा दुर्ध्यान रहता है, वह अनेक सद्गुणों पर पाणी फेर कर दुर्गुणों की तरफ ही लक्ष्य रखता है, जिससे वह बड़े बड़े संत महात्मा त्यागी वैरागियों का भी द्रोही हो जाता है, दोनों लोकों में अनेक आपदा भोगता है, ऐसा जानकर श्रावक जी सब के सद्गुणों के ही ग्राही होते हैं। गुण और अवगुण प्रायः सभी वस्तुओं में होते हैं, जो एकेक वस्तु के अवगुण धारण करें तो वह अवगुण का भंडार हो जावे, और गुण धारण करें तो गुणका भंडार होजावे। जिससे दोनों लोकों में अनेक सुखों का भोक्ता बने, श्रावक जी ऐसे गुणानुरागी होते हैं—गुण ही गुण ग्रहण करते है।

(६) "भीरू" जो गुण ग्राही होंगे, वे गुण के भंडार बनेंगे। और जिनके पास गुण रूप खज़ाना भरा होगा, वे उन रत्नों को हरण

करने वाले तथा मलिन करने वाले चोरोंसे अवश्य ही डरेंगे। मेरे गुणोंका नाश न होवे या किसी प्रकार से कलंकित नहीं होवे—इस डरसे डरते हुये वे (१) द्रव्य चोर—अधर्मी, पापी, दुर्व्यसनी, अनाचारी' पाखंडी, म्लेच्छ, कृतघ्नी, विश्वास घातक, चोर, जार इत्यादि अयोग्य लोगों का संग नहीं करते है और (२) भाव चोर—मद, मत्सर दगा, निन्दा, चुगली, व्यभिचार, हिंसा आदि दुर्गुणों को अपने गुण रत्नों के खज़ाने में प्रवेश नहीं करने देते हैं—सदा सावधान रहते हैं। इन दोनों चोरोंका प्रसंग बड़ा ही भयङ्कर होता है। इन चोरों ने वड़े बड़े पराक्रमी—जपी—तपी—ज्ञानी—ध्यानी—महात्माओं को धूल में मिला दिया है, इस वास्ते इन से डरनाही उचित है। जो डरेगा सो ही बचेगा! अस्तु, भीरुत्व—डरना भी सर्वश्रेष्ठ गुण है। इस गुण से अनेक गुण आकर्षित होकर अपने आप चले आते हैं। अर्थात् जो लौकिक अपवाद निन्दा से और पारलौकिक अपवाद नर्कादि गति से डरेगा, वह अकार्य पाप कर्मों से अवश्य बचेगा। कुकार्यों से बचने के लिये इस गुण की बहुत ही जरूरत है। परन्तु धर्मोन्नति के स्थान में इस गुण का आश्रय लेना उचित नहीं है, जो औषधी जिस मरज़ पर वापरने की होती है वह वहीं गुण करती है, उसके प्रति पक्षी रोग को मिटाने के लिये तो प्रति पक्षी औषधी ही गुण कर्ता होगी, यह बात अवश्य ध्यान में रखने की है।

(७) "अशठ" जो यथोचित स्थानों में यथोचित वस्तुओं का व गुणोंका व्यय करते है, उनको अशठ यानी सुज्ञ कहते है। और भी शठ नाम मूर्ख का है। जो मूर्ख अज्ञानी अनसमझ होता है, उसे कार्याकार्य का विचार नहीं होता है, ऐसे श्रावक नहीं होते है। श्रावक तो कार्याकार्य का विचार करके, जो कार्य करने लायक होते हैं वे ही कार्य करते हैं। किसी का भी मन दुःखित न हो—ऐसी चतुरता के साथ जो प्रवर्तते है, उन्हें ही चतुर कहते हैं। अथवा जो चारोंही गतियों से तिरने का उपाय धर्म और चारों कषायों को पतली करने का उपाय उपशम करते हैं वे ही श्रावक चतुर यानी अशठ होते हैं।

(८) "सुदक्खिन" सुदाक्षिण अर्थात् अच्छे विचक्षण होशियार होते हैं।

दक्षिणता दो तरह की होती है, अतएव यहां दक्षिणता की आदि में "सु" प्रत्यय लगाया है। कुदक्षिणता उसे कहते हैं कि कितने ही दक्ष अपनी दक्षता का उपयोग पापकारी ठगाईके कार्यों में करते हैं। जैसे कसाइयों ने पशु वध के यंत्रों की योजना की है, जिससे एकही वार में अनेक पशुओं का संहार होजाता है। ऐसे ही त्रस एवं स्थावर प्राणी की हिंसा में भी बुद्धि का व्यय करते हैं, उसे कुदक्षिणता कहते हैं। ऐसी दक्षिणता यानी चतुरता को श्रावक मन कर के भी अच्छी नहीं जानते हैं तो फिर करना तो दूर रहा। और कितनेक व्यापारी लोग व्यापार के कामों में दगाबाज़ी करके चतुरता समझते हैं, तत्प्रतिरूप वस्तु बना कर—मिलाकर—झोल चढ़ाकर —सच्ची वस्तु के भाव बेच देते हैं। वैसेही ब्याज में मास तिथि का फरक डालकर अधिक लेलेते हैं, तोल माप में कम देते है, ज़्यादा लेते हैं। वकील बैरिष्टर बनके झूठे को सच्चा और सच्चे को झूठा बना देते है। इत्यादि कुकर्तव्य में चतुरता समझते है, परन्तु श्रावक जन ऐसा करने में ज़बर्दस्त पाप समझते हैं। वे अपने लाभ के लिये ही नहीं करते हैं, तो फिर कराना और भला जानना तो दूर रहा। ऐसी कुदक्षिणता का त्याग कर सुदक्षिणी होते है—अर्थात् धर्मकी वृद्धि, दया की वृद्धि, ज्ञान की वृद्धि, तथा देव गुरू धर्म की प्रभावना आदि सुकार्यों में दक्षिणता वापरते है—नयी नयी युक्तियां निकालते है—ज्ञान की चमत्कारिक बातें रचते हैं, ऐसी चतुरता से लोगों को चकित करके धर्म की वृद्धि करते हैं, धर्म कार्यों में चतुराई का प्रसार करने से इस लोक में यशस्वी होते है, प्रख्याति पाते है। न्याय से उपार्जन की हुई लक्ष्मी बहुत काल टिकती है एवं सुख दाता होती है। और सबको सुख दाता होने से आगे के भव में भी सुखी होते है।

(९) "लज्जालु" विचक्षण पुरुषों के नेत्रों में लज्जा स्वाभाविकही होती है। कहा है " लज्जा गुणौघ जननी " लज्जा अनेक सद्गुणों को जन्म देने वाली माता है। अर्थात् लज्जा गुण होने से शील, संतोष, दया, क्षमा, आदि अनेक गुण आकृष्ट होकर चले आते हैं। उत्तम पुरुषों के नेत्र स्वाभाविक ही लज्जा से झुके हुये होते हैं, वे सदा अकार्य से शंकित रहते हैं,

लज्जावंत से झगड़े टंटे नहीं होते हैं, व्यभिचारी नहीं होते हैं, दगा कपट से बचे रहते हैं, अतएव वे सब को प्यारे लगते हैं-सत्कार पाते हैं। लोग आग्रह पूर्वक उन को आसन वस्त्र आहार आदि देते हैं। इत्यादि अनेक गुण समूह की धारक लज्जा को श्रावकजी अपने अंग में धारण करते हैं।

(१०) "दयालु" दया यह तो सर्व सद्गुणों का और धर्म का मूल ही है। जिनके घट में दया होती है वेही धर्मात्मा साधु एवं श्रावक कहे जाते हैं। दया दयाकी पुकार मचाते रहने से दयालु नहीं कहलाते है, परन्तु निस्वार्थ बुद्धि से दया के कार्य कर दिखाने वाले ही दयालु होते हैं। दयालु अपनी आत्मा के समान सबकी आत्मा को जानते हैं। अपने दुःख से जितना अंतः करण दुखता है, उतनाही दुःख दूसरों के दुःख से उन्हें होता है। धर्म का और उपकार का कारण जानकर अपने से ज़्यादा दूसरों की हिफ़ाज़त करते हैं। परोपकार के लिये अपने प्राण तक झोंक देते हैं, धनका तो कहना ही क्या ? जितना समय परोपकार के काम में लगे, उतनाही आयुष्य और जितना द्रव्य परोपकार में लगे, उतना ही धन अपना समझते है। हरेक कार्य में किसी जीवका नुकसान नहीं होवे-ऐसे प्रवर्तते है, जैसे—उठते, बैठते, लेते, देते यत्ना रखते है। पाणी घी तेल आदिक पतली वस्तु तथा दीवा चुल्हा आदि वस्तु, जिनमें जीव पड़कर मर जाते हैं, उघाड़ी नहीं रखते है। झाड़ना, लीपना, छापना, भोजन बनाना, वस्त्रादि धोना, स्नान करना, रास्ते चलना इत्यादि अपनी आत्मा तथा परात्मा के घातक कार्य, रात्रि में नहीं करते हैं। पाखाने में जंगल जाने से, मोरी पर पेशाब करने से या स्नान करने से, असंख्य संमूर्छिम जीव मरते हैं ; अतः ये भी टले वहां तक टालते है। त्रस जीव युक्त अन्न, फल, भाजी, आटा, दाल, सूखे शाक तथा मकान आदि नहीं वापरते है—धूप में या गरम पाणी धूम्र आदि के प्रयोगों से उनको दुःख नहीं उपजाते हैं। चातुर्मास आदिक जीवोत्पत्ति के काल में बहुत ही यत्ना सहित प्रवर्तते हैं, किराणे आदि का हिंसक व्यापार भी नहीं करते है। लोहे की कील लगे हुये नाल वाले

जूते नहीं पहनते है। मिथ्यात्वियों की देखा देखी मुरदों की राख पाणी में नहीं डालते हैं। सूर्यादि के ग्रहण में पाणी नहीं ढोलते हैं। विवाह लग्न आदि शुभ प्रसंगों में धन में आग नहीं लगाते हैं अर्थात् दारू के ख़्याल आतिशबाज़ी आदि नहीं छोड़ते हैं। धूप दीप आदि हिंसा कार्य में धर्म नहीं मानते हैं। पशुओं एवं मनुष्यों को कारण पड़ने पर मज़बूत बन्धन से बान्धें नहीं, मारें नहीं, अधिक भार भरें नहीं, अंगोपांग छेदें नहीं, वृद्ध नोकर को तथा पशु को छोड़ें यानी हटावें नहीं। दुष्काल आदि विकट प्रसंगों में अनाथों की यथाशक्ति सहायता करें। तन मन धन से दया की जितनी वृद्धि होवे उतनी करें।

(११) "मझत्थ" मध्यस्थ प्रणामी होवें, अर्थात् राग द्वेष की परिणति पतली होने से न किसी पर ज़्यादा प्रेम करते हैं और न किसी पर द्वेष! छद्मस्थता के योग से कदापि मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ वस्तु देखकर राग द्वेष मय भाव होजावें तो उससे अपने मनको तुरंत हटा लेते हैं। वे जानते हैं कि पुद्गलों का स्वभाव सदा पलटताही रहता है, अच्छे के बुरे और बुरे के अच्छे होते रहते हैं। जिसके स्वभाव में फरक पड़े उसपर राग द्वेष करना निरर्थक है। यह शरीर भी पोषते पोषते रोगी, वृद्ध और अंत में मृत्यु रूप बन जाता है। कुटुंबीभी पोषते पोषते बदल जाते हैं। लक्ष्मी भी क्षण भंगुर है। अस्तु जिस प्रकार धाय माता अन्य के बच्चे का लाड़ प्यार करती हुई भी जानती है कि यह मेरा नहीं है, तैसे ही श्रावक जी भी आंतरिक दृष्टि से कुटुम्ब आदि के मोह मे अलग रहते हैं। मध्यस्थ वृत्ति से निबड़ कर्मों का बन्धन नहीं करते हैं तथा मध्यस्थ गुण धारी श्रावक किसी भी मत मतान्तर की खेंचा तानी में नहीं पड़ते हैं, न्याय को स्वीकार लेते हैं, दोषों को त्याग देते हैं।

(१२) "सुदिट्ठी" शुद्ध दृष्टि वाले होवें। दृष्टि नाम आंतर चक्षु से अवलोकन करने का है, सो अवलोकन दो तरह का होता है। जैसे पीलिये रोग वाला बाह्य चक्षुओं से श्वेत बस्तु को भी पीत (पीली) अवलोकन करता है, तैसे आंतरिक कुदृष्टि वाला मिथ्यात्वी भी सत्य को असत्य, असत्य को सत्य, धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, साधु को असाधु,

असाधु को साधु आदि उलटा ही देखता है, और कुकर्म करके सुख की अभिलाषा करता है, परन्तु उन कुकर्मों के फल भोगते समय वही दुःख पाता है। परंतु सुदृष्टि के आंतर चक्षु, निर्मल होने से यथार्थ ही देखते हैं।

हिंसा रहिए धम्मे , अट्ठारह दोस विवज्जिए देवे ।
णिग्गंथे पव्वयणे , सद्दहेण हवइ सम्मत ॥ ९० ॥
—मोक्ष पाहुड

अर्थात् जो अट्ठारह दोषों से रहित को देव मानते हैं, अट्ठारह पापों के त्यागी को गुरू मानते है, और जिनेश्वर की आज्ञायुक्त दया में धर्म मानते है, वे विकार दृष्टि रहित सौम्य–शान्त–शीतल–सम्यक दृष्टि वाले श्रावक जी होते है।

(१३) "गुणानुरागी" गुणवंत होने के लिये गुणानुरागी होना सर्व श्रेष्ठ उपाय हैं। "गुणानुराग" सम्यक् दृष्टि का मुख्य लक्षण है। गुणानुराग ही अनेक गुणों के समूह को एवं गुणी जनों को खेंच कर गुणानुरागी के पास लाता है। इस विश्वालय में अनेक पदार्थ हैं उन की पहचान गुणानुरागी को ही होती है। कहा है, "भाग्यहीना न पश्यति बहुरत्ना वसुधरा" अर्थात् यह पृथवी गुणीजन रूप रत्नों करके भरी है, उसे भाग्य हीन नहीं देख सकते है, भाग्यवान गुणानुरागी ही देख सकते है गुणानुरागी ज्ञानवंत, क्रियावंत, क्षमावंत, धैर्यवंत, त्यागी, बैरागी, ब्रह्मचारी, संतोषी, धर्म दीपक आदि गुणवंतों को देखकर बिलकुल ही ईर्षा नहीं करते है, प्रत्युत अधिक खुशी होते है। वे समझते है कि इनहीं नररत्नों से जगत् में क्षेम कल्याण वर्तता है। ऐसा जानकर गुणवंतों की तन मन धन से यथा शक्ति सेवा भक्ति बजाते हैं, इच्छित वस्तु–वस्त्र आहार, औषध, पुस्तक, स्थानक, वगैरह से साता उपजा कर धर्मानुराग बढ़ाते है। नम्रता से सत्कार सन्मान करके उनका उत्साह बढ़ाते हैं और मनसे भले जानकर, बचन से कीर्ति कर, काया से भक्ति कर, पुण्यानुबन्धी पुण्य उपार्जन करते हैं। ऐसे सत्य वक्ताओं के मुख से गुणवंतों की कीर्ति श्रवण कर, अनेक गुणवंत बनते है—अनेक गुणानुरागी बनते है। गुणग्राही होने के कारण गुणानुरागियों का कोई भी दुशमन नहीं होता है। और

वे दूसरों के गुणगान करते हैं, जिससे जगत भी उनका गुणगान करता है, जिससे उनकी सत्कीर्ति विश्वव्यापी बन जाती है। (१) श्रीमद्भागवत में लिखा है कि गुरू दत्तात्रेयने सुतार, वेश्या, मक्खी, आदि २४ गुरू किये थे, सो फक्त गुणानुरागी बनके गुण ग्रहण करने का ही कारण था! जिससे वे अभी वैष्णव सम्प्रदाय में गुरू दत्त के नाम से पहचाने जाते है, और बहुत जन उनका भजन करते है। (२) श्रीकृष्ण वासुदेव के गुणानुराग के बारे में शक्रेन्द्र जी ने प्रशंसा कीथी। उसे एक देवता ने कबूल नहीं करी। अन्ततः सड़ी हुई कुत्ती का रूप बनाकर रास्ते में पड़ा। उसकी दुर्गन्ध से सब लोगों ने मुँह फिरा लिय., परन्तु कृष्णजी ने उसकी दांतों की बत्तीसी की प्रशंसा करी। ये गुणानुरागियों के लक्षण ध्यान में लेकर, एवं गुणानुरागी को गुण सागर जानकर, श्रावक जी गुणानुरागी बनते है।

(१४) " सुपक्ख जुता " गुणानुरागी तो होवें, परन्तु गुण अवगुण की गड़बड़ करें नहीं। गुण अवगुण की पिछान करके एवं अवगुण को छोड़करके जो गुणही का पक्ष ग्रहण करते हैं सो सुपक्षी कहे जाते हैं। पक्ष भी दो तरह के होते हैं कुपक्ष और सुपक्ष। अतएव उपरोक्त पक्ष शब्द में " सु " प्रत्यय लगा है। प्रथम कु-पक्ष है सो भी दो तरह का होता है-(१) कितनेक सत्संग से सत्शास्त्रों के पठन से एवं लोगों की प्रवृत्ति आदि के देखने से जान जाते हैं कि जिनका हमने पक्ष ग्रहण किया है वे देवगुरु धर्म खोटे हैं, शुद्ध आचार विचार रहित हैं, तो भी पक्ष में बंधे हुये उन्हें नहीं छोड़ते हैं। वे विचारते हैं कि मुझे इस धर्म वालों ने अगवानी बना रक्खा है। सब मेरा सन्मान करते हैं। मेरी आज्ञा में चलते है, जो मै इसे छोड़ दूँगा तो मेरी निंदा होगी, आजीविका बंद होजायगी, ऐसा सन्मान दूसरी जगह नहीं मिलेगा इत्यादि विचार से खोटे पक्ष को गधे की पूंछ की तरह लात खाते हुये भी पकड़े रहते है, उसे आभिनिवेशिक मिथ्यात्वी कहते है (२) कितनेक जीव स्वभाव से ही भोले भाले होते हैं, अतः वे आचार विचार तो कुछ समझते नहीं है। जैसे बाप दादा करते आये हैं वैसाही हमको भी करना चाहिये, अपनी कुल

परंपरा से जो गुरू चले आते हैं अपने तो वेही गुरू हैं। जैसे दूध वाले को तो गाय के दूध से ग़र्ज़ है, चाहे वह कुछही खाती फिरे, तैसेही अपने को तो ज्ञानादि गुण ग्रहण करने की गर्ज़ है, आचार को देखकर हमें क्या करना है-इत्यादि विचार से दृष्टि राग में फँस कर कुमत का पक्ष धारण करते है एवं सुमत से द्वेष करते हैं, वे अभिग्रह मिथ्यात्वी कहे जाते हैं। परंतु श्रावक जन ऐसे भोले नहीं होते हैं। वे तो पूर्व पुण्योदय से जो सद्बुद्धि की प्राप्ति हुई है, लौकिक लोकोत्तर प्रसंग द्वारा एवं सच्छास्त्र श्रवण पठन द्वारा जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, उनके द्वारा सुपक्ष कुपक्ष की छान बीन करते हैं। जो कुपक्ष मालूम होता है उसे छोड़ देते हैं। और सुपक्ष को ही स्वीकार करते हैं। यहां कोई कहे कि पहिले तो तुमने राग द्वेष करने का निषेध किया था, और अब फिर अच्छे का पक्ष ग्रहण करने के लिये कहते हो ? तो उनसे कहा जाता है कि वस्तु को यथार्थ जानने और यथार्थ कहने में कुछ दोष नहीं है। यह जहर है, इसके खाने से मृत्यु होती है। यह अग्नि है, इस के छूने से शरीर जलता है। ऐसे ही यह पाप कर्म है, सो दुःखका दाता है। इन अनाचीर्णों के सेवन करने वाले को साधू नहीं कहना। इत्यादि यथार्थ कह कर सुखार्थी आत्माको दुःख के मार्ग में जाने से बचाने में निन्दा नहीं समझना चाहिये। यह तो सद्बोध और सद्धर्म में प्रवृत्ति कराने की सद्भावना है। और जिसे सत्यासत्य का भान नहीं है, उसे अज्ञानी कहा जाता है। और जो असत्य का पक्ष धारण करता है उसे मिथ्यात्वी कहा जाता है। इस लिये जो श्रावक जन इन दोषों से निवृत्त होते हैं वे सुपक्षी कहे जाते हैं। (२) दूसरे रूप में सांसारिक संबंधी परिवार को भी पक्ष कहते हैं। सो श्रावक जी बहुत करके तो धर्मात्मा के कुल में ही उत्पन्न होते है, इस लिये मात पिता आदि स्वजनों के सुपक्ष के संयोग से सुपक्ष की वृद्धि करते हैं। कदापि पापोदय से मिथ्यात्वी कुल में जन्म होवे और पीछे पुण्योदय से सद्गुरू आदिका सुसंयोग मिलने पर धर्म की प्राप्ति होने से श्रावक धर्म अंगीकार करे तो उन श्रावक को उचित है कि बने वहां तक किसी भी उपाय से अपने परिवारको धर्मात्मा बनावे। क्योंकि अधर्मी मिथ्यात्वियों के प्रसंग में हमेशा रहने से क्लेश चिंता आदि

उत्पन्न होवें तथा व्रतों का शुद्ध पालन होना मुशकिल होवे। इस लिये जैसे चेलणाजी भूल से मिथ्यात्वी कुल में आगई परन्तु पर्यत्न करके अपने पति श्रेणिक राजा को और सब परिवार को, यही नहीं सारे देश तक को जैनी बना दिया, तैसे ही यथा शक्ति पर्यत्न सबको करना चाहिये। ऐसे सत्पुरुष ही जगत में उत्पन्न हुये प्रमाण गिने जाते हैं।

(१५) "सुदीह दिट्ठी" अच्छी दीर्घ दृष्टि वाले होवें। सु—अच्छी और दीह—लम्बी, ये दो प्रत्यय दृष्टि नामक शब्द के लगे हैं, इस से दृष्टि के चार भेद होते हैं—१ सुदर्शी, २ कुदर्शी, ३ दीर्घदर्शी, और ४ ह्रस्व दर्शी। इन में दो तो हेय हैं अर्थात् त्यागने योग्य है और दो उपादेय है अर्थात् आदरने योग्य हैं। आदरने योग्य का स्वरूप बताने से त्याग ने योग्य की सहज ही समझ हो जायगी। दर्शी नाम अंतःकरण में दर्शने का यानी विचारने का है। अनादि से कु-कर्म के कार्योंका प्रसंग होने से कुविचार की रमणता स्वाभाविक होती है, और सुविचार का आना मुश-किल है, परन्तु धर्मात्मा जीव अनादिकाल के कुस्वभाव को मिटाने के लिये सदा सुसंयोग के स्थानों में रहते हैं और वार्तालाप में तथा कायिक भोग आदि सम्बन्ध में भी कुविचार की वृद्धि का प्रसंग कम ही आने देते हैं। अपशब्द बोलना, अंग कुचेष्टा करना, या विशेष काल इन्द्रियों के भोग विलाश में ही बिताना, यह श्रावकों का कर्तव्य नहीं है। पाप मय विचार, उच्चार एवं आचार से अधिकाधिक बचने के उपायों में मशगूल रहने वाले ही श्रावक होते है। अब दीर्घ दृष्टि पर विचार करिये। एक कार्य ऐसा होता है कि जो स्वल्प काल तो सुखदेता है और बहुत काल दुःख देता है तथा एक कार्य ऐसा होता है कि स्वल्प काल तो दुःख प्रद होता है और बहुत काल सुख प्रद होता है। इन दोनों कार्यों का दीर्घ दृष्टि से विचार कर, स्वल्प काल सुख रूप और बहुत काल दुःख रूप पंचेन्द्रियों के भोगों का एवं अन्याय से द्रव्योपार्जन करने आदि का त्याग कर, स्वल्प काल दुःख और बहुत काल सुख देने वाले तप संयम त्याग वैराग्य आदि कर्तव्यों को स्वीकार कर, दीर्घ दृष्टिवाले श्रावक, बर्द्धमान परिणाम से प्रवृत्ति करते हैं।

मतलब यह है कि–हरेक कार्य के अंतिम परिणाम यानी फल को विचार करके जो कार्य करते हैं, उन्हें पश्चात्ताप का प्रसंग बहुत कम आता है। इस गुण वाले व्यक्ति कार्य करने की रीति और उसके गुण के जानकार होते है, लोक अपवाद से बचते हैं, राज दरबार पंच पंचायती के कामों में माननीय होते हैं अर्थात् बहुत लोग उनकी सलाह मशविरा से काम करते हैं। और श्रावक भी ऐसे विचक्षण होते हैं कि पाप कार्यो में सलाह देते हुये भी धर्म ही पैदा कर लेते हैं। जैसे किसी ने सकर गालने की परवानगी मांगी, तब आप विचक्षणता से जवाब देते है कि इतने उपरांत सकर गालने की कुछ ज़रूरत नहीं दिखती है। इस कार्य में अमुक वस्तु (जो विशेप पापकारी हो सो) निपजानी नहीं चाहिये। अहो भव्य ! धर्म विवेक में ही है। विवेकी श्रावक व्यवहार को साधते हुये भी अपनी आत्मा पाप से बचालेते हैं।

(१६) "विसेसन्न" विशेपज्ञ होवे। "ज्ञ" शब्द का अर्थ ज्ञाता होता है और "विशेष" शब्द के लगने से अधिक ज्ञाता होना, ऐसा मतलब होजाता है। जाणपने की कोई सीमा तो है ही नहीं, इसलिये सामान्य पुरुषों से जितना विशेप ज्ञान होवे उतनेही विशेपज्ञ कहलाते हैं। विशेपज्ञ भली बुरी सबही बात के जानकार होते है, क्यों कि बुरी को बुरी जानेगा तब ही बुरी से अपनी आत्मा को बचा सकेगा। शास्त्र में भी कहा है "जाणियव्वा न समायरियव्वा" अतिचार पाप आदि के जानकार तो होना परन्तु आदरना नहीं। ऐसे ही गुणों के भी जानकार होना चाहिये ! जो व्रतादि गुणों के फलका जानकार होता है वह व्रतादि गुणों को स्वीकार करता है, उस के अंतःकरण में वे गुण चिरस्थायी होकर रहते है, और उन गुणों का वह यथातथ्य फल भी प्राप्त कर सकता है। जैसे सुवर्ण और पीतल, गायका दूध और आक का दूध, आदि कितनेक पदार्थ रूप में तो एक समान दीखते है फिर भी उनमें पृथिवी और आकाश जितना अंतर होता है। तैसे ही इस सृष्टि में कितनेक ऐसे मनुष्य हैं कि ऊपर के वेपमात्र से ऊपर से तो एक सरीखे दीखते हैं कि ये सच्चे साहूकार–सच्चे भक्त राज–धर्मात्मा–महात्मा–साधु–बड़े गुणीजन

तथा उत्तम पुरुष हैं, और जब उनकी पोल खुलती है तब वे जितने ऊंचे दीखते थे उससे भी अधिक नीचे दीखने लगजाते हैं। और जितने ऊंचे चढ़े थे उससे भी अधिक लौकिक लोकोत्तर से यानी इस भव परभव से नीचे गिर जाते हैं। आप लांछित हुये पवित्र धर्म को भी लांछित करते हैं। ऐसे दुरात्माओं के अवगुणों को जानने के लिये श्रावक बड़े कुशल होते हैं। वे उनकी बोली में, चाली में, आहार व्यवहार में, दृष्टि में परीक्षा कर लेते हैं तथा धर्म की हीनता न होवे ऐसे उन्हें बना देते हैं। और जो सच्चे बाह्य अभ्यन्तर शुद्ध प्रवृत्ति वाले महात्मा होवें, उनके गुण कीर्तन कर अच्छी तरह धर्म की वृद्धि करते हैं।

(१७) " वृद्धानुराग " इस विश्व में एक से एक बढ़कर महान् पुरुष हैं, ऐसा जानकर श्रावक अपनी आत्मा में सदा लघुवृत्ति धारण करते हैं। और जो व्यवहार पक्ष में या निश्चय पक्ष मे बड़े होवें उनकी भक्ति करते हैं। व्यवहार पक्ष में जेष्ठ दो तरह के होते है, १–माता, पिता, बड़े भाई, सेठ, बहुतों के माननीय, वय में–पदवी में बड़े, इत्यादि की यथोचित भक्ति करके संतोष उपजाते हैं। और २–साधू, साध्वी, श्रावक, श्राविका, इत्यादि जो धर्म पक्षी वयोवृद्ध एवं गुण वृद्ध शुद्ध व्यावहारिक प्रवृत्ति में प्रवर्तने वाले है, उनकी भी यथोचित तह मन से भक्ति करें। इस भक्ति से जगत में यशोवृद्धि होती है, और वृद्ध पुरुष संतुष्ट होकर अनेक पुराने खजानों की द्रव्य वस्तु सो रत्नादि और भाव वस्तु सो शास्त्रों की कूंजियाँ बताते हैं, तथा वृद्ध पुरुषों का शांति पूर्वक अंतःकरण का दिया हुआ आशीर्वाद ही बहुत गुणोंका कर्ता होता है। और भाविक गुप्त वृद्ध उनको कहते है, जो दीखने में तो वय एवं शरीर आदि में लघु दीखते है तथा दीक्षा भी थोड़े कालकी ही होती है, परन्तु कर्मों की क्षयोपशमता के योग से कितनेक को स्वाभाविक अंतःकरण की विशुद्धता होने से–ऐसा अनुभव ज्ञान प्रगट होजाता है, कि उनके हृदय उद्गार से अनेक ज्ञानादि गुणों की भरी हुई तात्विक बातें प्रगट होती है। सम्यक्त्वादि गुण जिनके मज़बूत होते है, ऐसे पुरुष मान प्रतिष्ठाके लोभ से कदापि अपने गुण प्रगट नहीं करते है,

परन्तु विचक्षण श्रावक उनकी आकृति एवं प्रवृत्ति पर से उनकी पहचान करलेते हैं, जैसे जौहरी का पुत्र रत्न वाले पत्थर को पहचान लेता है। और उनकी व्यावहारिक प्रवृत्ति की तरफ लक्ष्य नहीं देते हुये यथोचित भक्ति तह मन से करते है। ऐसे पुरुष जो कदापि प्रसन्न होजावें तो दोनों लोकों में निहाल कर देवें। सारांश यही है कि वृद्धों की भक्ति बहुत गुण कारक होती है।

(१८) "विनीत" विनय यानी नम्रता, यह सब सद्गुणों का मूल है। गुणवंतों को अपने गुणों में वृद्धि करने के लिये इस गुण की बहुत ही आवश्यकता है। पहिले यह गुण जिनकी आत्मा में होता है तो वह दूसरे अनेक गुणों को खेंच लाता है। विनय से ज्ञान, ज्ञान से जीवाजीव की पहचान, पहचान से उनका रक्षण, रक्षण से वैर विरोध की निवृत्ति, और वैर विरोध की निवृत्ति से मोक्ष, यों विनय से यथाक्रम गुणोंकी प्राप्ति होती है। ऐसा जानकर श्रावक सदा सबके साथ नम्रता से वर्तते हैं, किसी भी तरह का अभिमान नहीं रखते हैं। जो नम्र होता है वही ज़्यादा क़ीमत पाता है, अनेकान्त दृष्टि के द्वारा संसार में सर्वत्र देख लीजिये।

(१९) "कयन्नु" कृतज्ञ होवे यानी अपने ऊपर किसी ने उपकार किया हो तो उसे भूले नहीं। सत्पुरुषों का स्वभाव होता है कि वे राई जितने उपकार को भी पहाड़ जितना समझते हैं, और सदा प्रत्युपकार करने की अभिलाषा रखते हैं। ग्रन्थ में कहा है कि—

नहि मे पर्वताः भारा, नमे भाराश्च सागराः।
कृतघ्नास्तु महा भारा, भारा विश्वासघातका॥

अर्थात्—पृथिवी कहती है कि बड़े बड़े पहाड़ों का और बड़े बड़े समुद्रों का मेरे को बिलकुल ही भार नहीं लगता है, परन्तु कृतघ्न और विश्वासघातक, इन दोनों के महा भार को मैं सहन नहीं कर सकती हूँ!!

कृतघ्नता, ऐसे असीम पाप का कारण है। कृतघ्न का जगत् में विश्वास नहीं रहता है। कृतघ्न को दिया हुआ ज्ञान, तप, संयम, सब उल्टा प्रणमता है, अर्थात नुकसान का कर्ता होता है, जैसे सर्पको

पिलाया हुआ दूध विष रूप हो जाता है। ऐसे ऐसे कृतघ्नता में अनेक-संख्यक दुर्गुण हैं, ऐसा जानकर श्रावक इसका स्पर्श भी नहीं करते हैं। उपकारियों के उपकार का बदला चुकाने के लिये सदा तत्पर रहते हैं, अवसर आनेपर सवाया प्रत्युपकार करते हैं, और आनन्द मानते हैं कि आज मै कृतार्थ हुआ।

(२०) "परिहियत्थ कारीये" व्यवहार भाषा में इस शब्द का मूलार्थ यह होता है कि—श्रावक वही होता है, जो सर्वदा दूसरों के हित के लिये कर्म करता है। वस्तुतः मनुष्य ही वही है जो परोपकार करता है, अन्यथा पशु में और मनुष्य में अंतर ही क्या रह जाता है। निश्चय में तो जो परोपकार करता है वह अपनी आत्मा परही उपकार करता है, क्योंकि परोपकार का फल अंततः उसही की आत्मा को सुख दाता होता है। इसलिये जो पर हित के कार्य को निजहित का कार्य समझ कर करते हैं, उनको उस कार्य का—परोपकार का गर्व नहीं होता है, जिससे वह कार्य बहुत फल का दाता होता है। क्योंकि अहङ्कार सदा सुकृत के फलका नाश करता है। और जो मूल शब्द में पर हित करने को कहा है सो भी बराबर ठीक है। क्योंकि जगत् में स्वार्थ साधने रूप दावानल बड़ा भयंकर लग रहा है। स्वार्थ साधने के खास अर्थ को नहीं समझते हुये जो मनुष्य स्वार्थ साधने का कार्य करते हैं, वह कार्य उलटा स्वार्थ का नाश करने वाला भी होजाता है। ऐसे अज्ञ जीवों को समझाने के लिये यह उपकार करने का उपदेश ही बहुत फायदे मंद होता है। श्रावक आंतरिक दृष्टि तो स्वार्थ साधने की तरफ रखते हैं, और व्यवहार में अज्ञ जीवों को रास्ते लगाने के लिये अपने व्यावहारिक धन कुटंब या शरीर का नुकसान भी यदि कभी होता हो तो उसकी दरकार नहीं रखते हुये परोपकार करते हैं, अन्य जीवों को यथाशक्ति सुख शान्ति उपजाते हैं। व्यास ऋषिने कहा है कि:—

—अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचन द्वयं।
परोपकारः पुण्याय पापाय पर पीड़नं॥

अर्थात्—अष्टादश पुराणों का सार इन दोही वचनों में है कि—

परोपकार के बराबर पुण्य नहीं, और परको पीड़ा (दुःख) देने के बराबर पाप नहीं। ऐसा जानकर, श्रावक जी यथा शक्ति परोपकार सदा करते ही रहते हैं।

(२१) "लद्ध लक्खो" लद्ध—प्राप्त किया है लक्ष—ज्ञान। मोक्ष प्राप्त करने के चार कर्तव्यों में प्रथम कर्तव्य ज्ञान ही है, इस लिये मुमुक्षु जीवों को मोक्ष प्राप्ति करके ज्ञानाभ्यास करने की बहुत ही आतुरता रहती है। जैसे भूखे को आहार की, प्यासे को पानी की, रोगी को औषध की, लोभी को दाम की, कामी को काम की, आतुरता होती है तैसी ही आतुरता श्रावक को ज्ञान ग्रहण करने की होती है। जैसे उपरोक्त इच्छुक इच्छित वस्तु के प्राप्त होने पर प्रेमातुर हो ग्रहण करते हैं—अतृप्ति से भोगते हैं, तैसे ही श्रावक भी अति आदर पूर्वक ज्ञान ग्रहण करते हुये कभी तृप्त नहीं होते हैं। मूल सूत्र, सूत्र का अर्थ, और सूत्र का दोहन करके बनाये हुये थोकड़े आदि का अभ्यास करते हैं। शास्त्र में कहा है कि श्रावक "सुपरिगहा तवोवहाण" अर्थात् सूत्र का अभ्यास उपधान तप से युक्त करते हैं। और भी "निगंत्थे पव्वयणे, सावय सेवि कोविए" अर्थात् पालित श्रावक, निर्ग्रन्थ प्रवचन के जानकार थे। "सीलवया बहुसुया"-राजमतीजी दीक्षा धारण करी उसवक्त शीलवती बहुत सूत्रों की जानकार थी। इन दाखलों से जाना जाता है कि-श्रावक श्राविका दोनों ही को सूत्रका जानकार अवश्य होना चाहिये। जो सूत्र जानके ज्ञाता होवेंगे, उनकी श्रद्धा पक्की होगी, व्रत शील तप नियम निर्मल पाल सकेंगे, आराधक होवेंगे।

जो अपने अपने समय के अनुसार, उक्त इक्कीस गुणों से युक्त हों, उन्हें श्रावक कहना चाहिये।

(२) "श्राविका" जैसे २१ गुण श्रावक के कहे, वैसेही २१ गुन श्राविका के जानना, फक्त स्त्री पर्याय के कारण से व्यापार आदि [illegible] कार्यों का प्रसंग बहुत कम आता है। परन्तु श्राविका को गृह [illegible] कार्यों का प्रसंग विशेष रहता है, उसमें बहुत ही यत्ना से [illegible] की जरूरत है। विचारना चाहिये कि

कीजिये, ताकि धर्मोन्नति के लिये अग्रसर हों।

अहो आत्म सुखार्थी मुनिवरो तथा श्रावको! अब आपको गडरिया प्रवाह रूप चलती हुई जगत् रूढ़ि की तरफ दृष्टि देनी ही नहीं चाहिये। अपने को तो श्री तीर्थंकर भगवान की आज्ञा, जिसके आराधने से अपनी आत्मा को सुखकी प्राप्ति होती है, उसकी ओर ही लक्ष देने की आवश्यकता है। जो शास्त्र न्याय के विना कपोल कल्पित बातें बनाकर कुपक्षी एवं कदाग्रही बनाते हैं, वे लोगों को महा मोहनीय कर्म के बन्धन में डालते हैं, ऐसे उपदेश कों के उपदेश की तरफ लक्ष देना ही नहीं चाहिये—किसी प्रकार के झगड़ों में पड़ना ही नहीं चाहिये। निष्पक्ष बुद्धि से शास्त्र के द्वारा निर्णय करके तथा उसेही धारण करके यथाशक्ति प्रवृत्ति करो, परन्तु किसी पर निंदा तथा आक्षेप वगैरह करने की कुछ भी ज़रूरत नहीं। अपने को जो सत्य मालूम हो उसी पर अवलम्बित रहो और महा पाप में डूबती हुई अपनी आत्मा को बचाओ।

जैसे राजाओं के यहाँ बहुत सी सेनाएँ होती हैं। उनका एकत्र समावेश न होता देख तथा बल बुद्धि आदि में अंतर देख, अलग अलग रिसाले करते हैं और वे सब रिसाले अलग रहते हैं। अपने कपतान (मालिक) के हुक्म के अनुसार कवायद वगैरह करते हैं। राजाकी नोकरी बजाते हैं। वे विभिन्न वर्दियों में और रीति नीतियों में रहे हुये रिसाले एकही राजा के अंग रूप गिने जाते हैं, अर्थात् सब एकही राजा का हुकम बजाते हैं। और परचक्री आदि का प्रसंग प्राप्त होने पर सर्व रिसाले उसपर चढ़ाई कर जाते हैं। सभी रिसाले वाले अपने पक्ष के सभी रिसालों का रक्षण करना तथा प्रति पक्षियों का क्षय करना चहाते हैं। और परस्पर एक दूसरे की पूर्णतया सहायता करके अपने मालिक की फतह करते है।

इसी दृष्टान्त के अनुसार महाराजा तो श्री महावीर स्वामी हैं और उनकी सेना साधु साध्वी श्रावक श्राविका है। इन चारों संघ का लाखों का समूह होने के कारण, काल के प्रभाव से एकत्र रहना न देखकर, रिसाले रूप अलग अलग सम्प्रदायों तथा गच्छों की स्थापना कीगई है। उनके

कितनेही आचार विचारों में और लिंग में किंचित मात्र अंतर है, परन्तु हैं सबके सब एकही महाराज श्री महावीर स्वामी के सैनिक। इसलिये सब सम्प्रदायों का कर्तव्य है कि परचक्र रूप पाखंड को हटाने के लिये सब एकत्र रहकर पर्यत्न करें। आपस में एक दूसरे सम्प्रदाय की कुशल चाहवें और समय पर परस्पर की सहायता करके महावीर के शासन की फतह करें।

जैसे सेना के सुभट सब एक से नहीं होते हैं, विचित्र स्वभाव और विचित्र गुण के धारक होते हैं, तैसे ही श्री वीर प्रभू के चारों ही संघ में भी विचित्रता प्रतिभासित होती है। कोई ज्ञानी हैं, वे ज्ञान प्रसार आदि से धर्म दिपाते हैं। कोई तपस्वी हैं, वे विचित्र प्रकार के दुकर तप करके धर्म दिपाते है। कोई वैयावच्ची हैं, वे वैयावृत्त द्वारा सब को साता उपजाकर धर्म की वृद्धि करते है। ऐसे ही किसी में कौनसा तो किसी में कौनसा, यों एक दो चार आदि गुण सब में ही हैं। पूर्णतः निर्गुणी कोई भी नहीं है। केवल अपने को तो समयानुसार शुद्ध व्यवहार देखने की जरूरत है। बाकी जितने गुण जिस में ज़्यादा होंगे वे उसकी आत्मा को सुख कर्ता होंगे। और अल्प ज्ञानी अल्प क्रियावंत जितना करेंगे उतना पावेंगे, दूसरों को बीच में पड़ने का क्या अधिकार है? क्या तीर्थंकर भगवंत के हज़ारों साधु सतियों का एकसा ही आचार विचार था? क्या एक समय वह नहीं हुआ था कि श्रेणिक राजा और चेलना राणीका रूप देख कर प्रायः सभी साधु सतियों ने नियाणा कर दिया था? आश्चर्य है कि—ऐसे ऐसे लेख शास्त्रों में मौजूद होते हुये भी जो धर्म को नष्ट भ्रष्ट करदेने वाले निंदा और आक्षेप आदि कारणों से नहीं बचते हैं, उनकी क्या गति होगी, सो विचारिये!!

सुयगडांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध के सप्तम अध्याय में देखिये—

भगवंचणं उदाहु—आउसं तो उदगा! जे खलु समणं वा, महाणंवा, परि भासेइ मिती मन्नति, आगमिता णाणं, आगमिता दंसणं, आगमिता चरित्तं, पावाणं कम्माणं अकरणयाए, सेखलु परलोग पलिमंथाए चिठइ। जे खलु समणं वा, महाणवा, णोपरिभासइ मिति मन्नंति आगमिता—

णाणं, आगमिता दंसणं, आगमिता चरित्तं, पावाणं कम्माणं अकर-
णयाए, से खलु परलोग विसुद्धीए चिट्ठइ ॥ ३६ ॥

अर्थात्—भगवंत श्री गौतम स्वामी फरमाते हैं कि—अहो आयु-ष्मान् उदक ! जो शास्त्रोक्त क्रिया अनुष्ठान के करने वाले समण (साधू) अथवा माहण (श्रावक) की निंदा करता है, वह मुक्ति के दाता सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन एवं सम्यक चारित्र का भी निंदक होता है। यदि वह निंदक सब पाप कर्म का त्यागी होवे तो भी परलोक का विराधक होता है—अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानादि गुणों की विराधना करके परभव में अनेक जन्म मरण करता है। [यह तो निंदा का फल कहा। अब गुण-ग्राहक आश्रित कहते हैं।] जो महा सत्यवंत पुरुष, रत्नाकर समुद्र जैसे गंभीर साधू और श्रावक की बिलकुल ही निंदा नहीं करता है एवं सर्व जनों के साथ मैत्री भाव का पोषण करता है, वह सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन सम्यक् चारित्र को यथोक्त शुद्ध पालता हुवा एवं सर्व पाप कर्म का त्याग करता हुआ परलोक में विशुद्ध पदधारी होता है—अर्थात् पूर्वोक्त गुणों की आराधना करके परलोक में निर्मल कुल आदि में जन्म लेता है—निर्मल धर्म की आराधना करता है—निर्मल देव लोक और मोक्ष के सुखका भोक्ता होता है।

भव्यो ! अपने परम गुरू श्री गौतम स्वामी जी महाराज के इन वचनों पर जरा लक्ष्य दीजिये ! संयम तप व्रत नियम आदि करणी करके व्यर्थ नहीं गमाइये। गुणानुरागी बन कर गुणों को ग्रहण कीजिये। आप जो गुण दूसरों की आत्मा में प्रविष्ट किये चाहते हो, उन गुणों को पहिले अपनी ही आत्मा में प्रविष्ट कीजिये और बराबर पालिये, जिससे आपको इच्छित सुख मिले।

अहो जिनेश्वर के अनुयायी महाशयो ! चारोंही तीर्थ परस्पर एक दूसरे के गुण ग्रहण करो, गुणानुवाद करो, हरेक की उन्नति के उपायों की योजना करो, अमल में लेने का उपाय करो, सबको सुख उपजावो, तन—धन—विद्या—ज्ञान जो कुछ शक्ति अपने पास हो वह सब कुछ संघ को अर्पण कर संघ के दासानुदास बनो; क्योंकि यही सच्ची स्वामी वत्सलता

है ! ! बाकी और जो छः काय का संहार कर, धामधूम कर, तंगम तंगा पेट भर, अनाचार की वृद्धि करते हैं, वे स्वामी वत्सल तो पेटार्थियों-अज्ञानियों के ही मानने योग्य हैं। धर्मात्मा लोग ढोंग में धर्म कदापि नहीं मानते हैं।

जो उपरोक्त रीति के अनुसार स्वामी वत्सलता यानी संघ भक्ति करने के लिये अगर चारों ही तीर्थ अब भी तह मन से प्रवृत्त हो जायँ तो, मैं निश्चय के साथ कहता हूं कि-यह परम पवित्र धर्म, पुनः पूर्ण प्रकाशी बन जाय और हम परमात्म पद का मार्ग प्राप्त करें।

—"तीर्यते संसारसागरो येन स तीर्थः"

अर्थात्—संसार से निस्तार करें-जन्म मर्णादि दुःख से मुक्त करें—और जो आत्मा को परमात्मा बनावें, वे ही तीर्थ कहे जाते हैं। इसलिये परमात्म मार्गानुसारी को तीर्थ (साधू साध्वी श्रावक श्राविका) की भक्ति ज़रूर ही करना चाहिये।

यह संघ भक्ति, ज्ञान के अभ्यासी ही कर सकते हैं-इसलिये ज्ञान का स्वरूप दर्शाने की इच्छा रखता हुआ यह प्रकरण पूर्ण करता हूँ।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का
"संघवत्सलता" नामक अष्टम प्रकरण समाप्त।

प्रकरण–नौवाँ

" ज्ञान–उपयोग "

" उपयोगो लक्षणम्– "
" तत्वार्थ सूत्र "
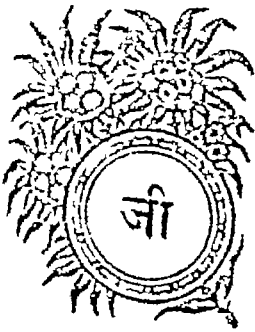
वका लक्षण ही उपयोग है, अर्थात् जो उपयोग युक्त होता है उसे ही जीव कहा जाता है। उपयोग विना की वस्तु जड़ यानी अचैतन्य गिनी जाती है, इसलिये आत्मा निश्चय नय से पूर्ण रूपेण विमल और अखंड जो सकल प्रत्यक्ष रूप केवल ज्ञान है, तत् स्वरूप ही है। परन्तु वही आत्मा व्यवहार नय से अनादि कालीन कर्म बंध से आच्छादित होने के कारण निरुपयोग जड़ जैसा हो रहा है। तदपि इसकी जो ज्ञान सत्ता है वह, कर्मों की हीनता एवं अधिकता के कारण हीन एवं अधिक हुआ करती है, अतएव " सद्विविधोऽष्टचतुर्भेदः " इस सूत्र से ऐसा बोध किया है कि आत्मा में जो उपयोग लक्षण है, उस के दो भेद अथवा आठ और चार यों बारह भेद होते हैं। इन बारह उपयोगों का अत्र संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

उपयोग के दो प्रकार हैं, साकार और अनाकार। ज्ञान, साकार उपयोग गिना जाता है, क्योंकि ज्ञान पदार्थाकार होकर ही पदार्थों को प्रति भासित करता है। तथा अकारादि अक्षरों को भी श्रुत ज्ञान कहा जाता है, और इस लिये ही ज्ञान उपयोग को सविकल्प कहा है। क्यों–कि वस्तु को जानने से उसके स्वभाव दर्शन की मन में अभिलाषा होती है। उस अभिलाषा का निराकरण करने वाला–निश्चय करने वाला दर्शन उपयोग है, जिसके द्वारा जानी हुई वस्तु के गुण स्वरूप स्वभाव का अंतःकरण में प्रति भास होता है–विकल्प मिट जाता है। इस लिये दर्शन उपयोग को निर्विकल्प उपयोग कहा है, वह निराकार है।

प्रथम साकार ज्ञानोपयोग के भेद कहते हैं–

णाणं अट्ठ वियप्पं मई, सुई ओही अणाण णाणाणि।
मण पज्जव केवलमवि, पच्चक्ख परोक्ख भेयंच॥

–द्रव्यसंग्रह

अर्थ—ज्ञान के आठ भेद हैं–१ कुमति २ कुश्रुति ३ और अवधि (विभंगावधि)। ये तीन अनादि मिथ्यात्व के उदय के वश विपरीत अभिनिवेशिक रूप ज्ञान होने से अज्ञान कहे जाते हैं। इन में के प्रथम दो (मति और श्रुति) अज्ञान तो संसारी जीवों के अनादि सम्ब-न्धी हैं, अर्थात् जब जीव निगोद स्थल में अव्यवहार राशि में था, तब भी इन दोनों अज्ञानों से सहित था। और वहां से निकल कर एकेन्द्रिय, विकेन्द्रिय असन्नी तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय में मिथ्यात्व पर्याय से रहे, वहां तक भी येही दोनों ज्ञान सहचारी होते हैं। कभी विशेष क्षयोपशमता से, सन्नी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य एवं तिर्यंच में और देव एवं नर्क में जन्म से भी विभंगावधि होता है।

मति ज्ञान

विपरीताभिनिवेश का अभाव होने से, मति ज्ञानावरण वाली प्रकृतियों का क्षयोपशम होने से, तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से, और बहिरंग पांच इन्द्रिय तथा मन के अवलम्बन से, मूर्त और अमूर्त वस्तु को एक देशेन विकल्पाकार रूप परोक्ष भाव से अथवा

सांव्यवहारिक (प्रवृत्ति और निर्वृत्ति रूप व्यवहार से) रूप प्रत्यक्ष भाव से जो जानता है उसे मति ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं, श्रुत निश्रित और अश्रुत निश्रित। इस में श्रुत निश्रित के दो भेद हैं, चक्षु इन्द्रिय और मन। ये दोनों सामने जाकर पदार्थों को ग्रहण करते हैं, इस लिये उसे अर्थावग्रह कहते हैं। और शेष चार इन्द्रियों के पास पुद्गल स्वयं आकर उपस्थित होते हैं तथा गृहीत होते हैं, इस लिये इसे व्यंजनावग्रह कहते हैं। २ अश्रुत निश्रित के चार भेद है-(१) विना देखी विना सुनी बात तत्काल बुद्धि से उत्पन्न होवे सो "उत्पातिकी बुद्धि" (२) गुरू आदिक विद्वानों की भक्ति करने से जो बुद्धि उत्पन्न होवे सो "वैनियिकी बुद्धि" (३) कार्य करते करते जो कार्य सम्बन्धी चतुरता होती है सो "कम्मि-या बुद्धि" और (४) ज्यों ज्यों वय वृद्धिंगत होती है त्यों त्यों बुद्धि की वृद्धि होती जाती है सो "प्रणामिया बुद्धि"। ये सब मति ज्ञान के भेद हैं।

(२) श्रुत ज्ञान।

श्रुत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, नो इन्द्रिय के अवलम्बन से, प्रकाश और अध्यापक आदि सहकारी कारणों के संयोग से, लोक तथा अलोक की व्याप्ति रूप ज्ञान से, जो मूर्त तथा अमूर्त वस्तुओं को अस्पष्टतः जानता है, उसे परोक्ष श्रुत ज्ञान कहते हैं। और विशेष यह है कि-शब्दात्मक (शब्दरूप) जो श्रुत ज्ञान है, वह तो परोक्ष है ही तथा स्वर्ग मोक्ष आदि बाह्य विषयों का बोध करने वाला विकल्प रूप जो ज्ञान है वह भी परोक्ष है। और जो अभ्यन्तर में सुख दुःख से उत्पन्न होने वाला विकल्प है, अथवा मैं अनंत ज्ञानादि रूप हूँ इत्यादि जो ज्ञान है, वह किंचित् परोक्ष है। और जो भाव श्रुत ज्ञान है, वह शुद्ध आत्मा के अभिमुख होने से सुख संवित् (ज्ञान) स्वरूप है, और वह निजात्म ज्ञान के आकार से सविकल्पक है, तो भी इन्द्रिय तथा मन से उत्पन्न जो विकल्प समूह है, उनसे रहित होने के कारण निर्विकल्पक है, और अभेद नय से वही आत्मा 'ज्ञान' इस शब्द से कहा जाताहै। यह निरागी चारित्री के बिना अन्य को नहीं होता है। यद्यपि यह केवल ज्ञानी की अपेक्षा तो परोक्ष

है, तथापि संसारियों को ज्ञायक ज्ञान की प्राप्ति न होने से क्षायोपशमिक होने पर भी प्रत्यक्ष ही कहलाता है। इस श्रुत ज्ञान के दो भेद हैं— (१) " अंग प्रविष्ट " जो सर्वज्ञ सर्वदशी अर्हंत भगवान् ने परम शुभ तीर्थंकर नाम कर्म के प्रभाव से, तादृश स्वभाव होने के कारण से कहा है उसी को अतिशय अर्थात् साधारण जनों से विशेषता युक्त और उत्तम ज्ञानसंपन्न गणधरोंने जो कुछ कहा है, वही अंग प्रविष्ट श्रुत ज्ञान है। इस के बारह प्रकार हैं। अर्थात् गणधर भगवान् ने इस अंग प्रविष्ट श्रुत ज्ञान को बारह प्रकरणों में विभक्त किया है, जो आचारांगादि बारह अंग कहलाते हैं। (२) अनग प्रविष्ट। गणधरों के अनन्तर होने वाले अत्यन्त विशुद्ध आगमों के ज्ञाता, परमोत्तम ज्ञानशक्तिसंपन्न आचार्यों ने अल्पायु क्षुद्रसंहनन धारी अल्प शक्ति वाले शिष्यों के अनुग्रहार्थ जो ग्रन्थ निर्म्माण किये हैं, वे सब उववाई आदि उपांग, छेद और मूल, अंग-बाह्य हैं। सर्वज्ञ रचित होने के कारण तथा ज्ञेय वस्तु की अनन्तता के कारण मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुत ज्ञान महान विषयों से संयुक्त है, और श्रुत ज्ञान महान् विषयों वाला होने के कारण, जीवादि पदार्थों का अधिकार करके प्रकरणों की समाप्ति की अपेक्षा अंग और उपांग आदि नाना भेदों वाला है। और भी सुख पूर्वक ग्रहण, धारणा तथा विज्ञान के निश्चय प्रयोगार्थ श्रुत ज्ञान के नाना भेद हैं। यदि कभी ऐसा न होतो समुद्र तैरने के सदृश उन पदार्थों का ज्ञान होना ही दुःसाध्य हो जाय। इसलिये ही अंग तथा उपांग, कालिक तथा अकालिक, अध्ययन तथा उद्देशों द्वारा नाना रूप से श्रुत ज्ञान का वर्णन किया गया है।

—पज्जय अक्खर संघणा, पडिवति तहय अणुओगो।

पाहुड पाहुड पाहुड, वत्थु पुव्वाय ससमासा॥

अर्थात्—१ ज्ञान के एक अंश को " पर्याय श्रुत " कहते हैं * २ दो तीन आदि विशेष अंशों को "पर्याय समास श्रुत" कहते हैं ३ अकारादि एक अक्षर को जानना सो " अक्षर श्रुत " है, ४ अनेक

* " अक्खरस्स अणंत भागो उघाडिओ भवइ " अर्थात् निगोदिये जीव के अक्षर का अनंतवॉ भाग उघाड़ा होता है।

अक्षरों को जानना सो "अक्षर समास" श्रुत है ५ एक पदका ज्ञान सो "पद श्रुत" ६ अनेक पदोंका ज्ञान सो "पद समास श्रुत" ७ एक गाथा का जानना सो "संघात श्रुत" ८ अनेक गाथाओं का जानना सो "संघात समास श्रुत" ९ गाथा का अर्थ जानना सो "प्रतिपत्ति श्रुत" १० गति जाति आदि विस्तार से जानना सो "प्रतिपत्ति समास श्रुत" ११ द्रव्यानुयोगादि में के एक योग को जाने सो "अनुयोग श्रुत" १२ दो तीन चार अनुयोगों को जाने सो "अनुयोग समास श्रुत" १३ अंतर्वर्ती एक अधिकार को जाने सो "प्राभृत-प्राभृत श्रुत" १४ अंतर्वर्ती अनेक अधिकारों को जानें सो "प्राभृत-प्राभृत समास श्रुत" १५ एक अधिकार को एक ही रूप से जाने सो "प्राभृत श्रुत" १६ एक अधिकार को अनेक रूप से जाने सो "प्राभृत समास श्रुत" १७ पूर्व की एक वस्तू जानना सो "वस्तु श्रुत" १८ पूर्व की अनेक वस्तु जानना सो "वस्तु समास श्रुत" १९ एक पूर्व जानना सो "पूर्व श्रुत" २० दो आदि चौदह पूर्व जानना सो "पूर्व समास श्रुत" २१ दृष्टिवाद की एक वस्तू जानना सो "दृष्टि वाद श्रुत" २२ और संपूर्ण दृष्टिवाद जानना सो "दृष्टिवाद समास श्रुत"। ये श्रुत ज्ञान के २२ भेद हैं। ऐसे श्रुत ज्ञान के अनेक भेद जानना।

मति और श्रुत में भेद।

मति और श्रुत ज्ञान में भेद इतना ही है कि-(१) मति ज्ञान तो इन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय (मन) को निमित्त मान कर आत्मा के ज्ञेय (जानने के) स्वभाव से उत्पन्न होता है। इस लिये यह पारणामिक भाव है। और श्रुत ज्ञान मति पूर्वक एवं आप्त के उपदेश से उत्पन्न होता है। (२) उत्पन्न होकर जो नष्ट नहीं हुआ है ऐसे पदार्थ का केवल वर्तमान काल में ग्राहक तो मति ज्ञान है। और श्रुत ज्ञान तो त्रिकाल विषयक है। जो पदार्थ उत्पन्न हुआ है, अथवा उत्पन्न होकर नष्ट होगया है, अथवा उत्पन्न ही नहीं हुआ-भविष्य में होने वाला है, अथवा नित्य है, उन सबका ग्राहक श्रुत ज्ञान है। बस इतना ही भेद इन दोनों में है।

वैसे तो " द्रव्यस्य सर्व पर्य्यायेषु " इस सूत्रानुसार, मति और श्रुत ज्ञान के धारक, द्रव्य की सब पर्यायों को जानते हैं—श्रुत केवली कहे जाते हैं। ये दोनों ही परोक्ष ज्ञान है।

(३) अवधि ज्ञान।

अवधि ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम से मूर्त वस्तु को जो एक देश प्रत्यक्ष द्वारा सविकल्प जानता है, वह अवधि ज्ञान है। यह अवधि ज्ञान नर्क में उत्पन्न होने वाले नारकों को तथा देव लोक में उत्पन्न होने वाले देवों को भव प्रत्यय होता है, अर्थात् उस भव में जन्म के साथ ही होता है, जैसे पक्षियों का जन्म ही आकाश गमन का हेतु होता है। मनुष्य योनि में उत्पन्न होने वाले तीर्थंकर भगवान तो पूर्व भव से ही अवधि ज्ञान साथ ही लेकर आते है और दूसरे मनुष्यों को तपश्चर्यादि द्वारा कर्मोंका क्षयोपशम होने से अवधि ज्ञान उत्पन्न होता है। अवधि ज्ञानी—१ द्रव्य से जघन्य तो अनंत सूक्ष्म रूपी द्रव्यों को जानते है, और उत्कृष्ट सर्व रूपी द्रव्यों को जानते देखते है (२) क्षेत्र से जघन्य तो अंगुलके असंख्यातवें भाग क्षेत्र को जानते हैं और उत्कृष्ट संपूर्ण लोक और लोक जैसे अलोक में असंख्यात खंड जानते देखते * हैं (३) काल से जघन्य तो आवलिका के असंख्यातवें भाग को जानते हैं और उत्कृष्ट असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी जानते देखते हैं (४) भाव से जघन्य तो अनंत भाव जाने उत्कृष्ट अनंतानंत भाव जाने।

अवधि ज्ञान छः तरह से होता हैः—(१) " अनुगामी " किसी क्षेत्र में किसी पुरुष को ज्ञान उत्पन्न हुआ, वहां से अन्य क्षेत्र में जाने पर भी उस पुरुष के साथ रहे। जैसे सूर्य का प्रकाश (२) " अनानुगामी " जिस क्षेत्र में पुरुष को उत्पन्न होता है उस क्षेत्र में से जब वह पुरुष कहीं अन्यत्र चला जाता है, तब उसका अवधि ज्ञान भी वहीं रह जाता है यानी आगे नहीं जाता है। जैसे दीपक का प्रकाश (३) " हीयमान "

* अलोक में अवधि ज्ञान से देखने जैसा कुछ भी पदार्थ नहीं है। यह तो मात्र शक्ति बताई गई है।

जो अवधि ज्ञान असंख्यात द्वीप समुद्र में, पृथिवी के प्रदेश में, विमानों में तथा तिर्यक् ऊर्ध्व अधो भाग में उत्पन्न हुआ है वह क्रमशः संक्षिप्त होकर अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र रह जाता है। अथवा सर्वथा ही नष्ट होजाता है। जैसे ईंधन रहित अग्नि की शिखा (४) "वर्द्धमान" जो अंगुल के असंख्यातवें भाग आदि से उत्पन्न होकर, संपूर्ण लोक पर्यंत बढ़ता है। जैसे शुष्क ईंधन पर फैंका हुआ प्रज्वलित अग्नि (५) "अवस्थित" जो उत्पन्न होने पर केवल ज्ञान की प्राप्ति तक अथवा मृत्यु पर्यंत नष्ट नहीं होता है—वेष के समान स्थिर रहता है (६) "अनवस्थित" जो तरंग के समान जहां तक उसको बढ़ना चाहिये वहां तक पुनः पुनः बढ़ता ही चला जाय और छोटा भी वहां तक होता जाय कि जहां तक उसे होना चाहिये। इसी तरह वह बार बार बढ़ता तथा न्यून होता रहे, गिरता और उत्पन्न होता रहे, एक रूप में अवस्थित नहीं रहे—इस लिये अनवस्थित कहा जाता है।

(४) मनः पर्यय ज्ञान।

मनः पर्यव ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से और ज्ञानान्तराय कर्म के क्षयोपशम से दूसरों के मनोगत मूर्तिमान् पदार्थ को एक देश प्रत्यक्ष से सविकल्प जानता है, वह मतिज्ञान पूर्वक मनः पर्यव ज्ञान कहा जाता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। जो अढ़ाई द्वीप में कुछ (२॥ अंगुल) कम क्षेत्र में रहे हुये सन्नीपंचेंद्रिय के मनोगत भावों को सामान्य रूप से खुलासा विना जानता है, और जो उत्पन्न होने के पश्चात् क्षीण भी होता चला जाता है, वह ऋजुमति। और जो संपूर्ण अढ़ाई द्वीप के सन्नीपंचेन्द्रिय के मनोगत भावों को स्पष्टतः खुलासा के साथ जानता है और उत्पन्न होने के पश्चात् क्षीण नहीं होता है, वह विपुलमति। अर्थात् विपुलमति मनःपर्यव ज्ञानीको केवल ज्ञान अवश्य उत्पन्न होता है।

अवधि और मनः पर्यव में भेद।

अवधि ज्ञान और मनः पर्यव ज्ञान की विशेषता दर्शाते हैं—

अवधि ज्ञान की अपेक्षा से मनःपर्यव ज्ञान विशेष विशुद्ध निर्मल है। जितने रूपी द्रव्यों को अवधि ज्ञानी जानता है, उनको मनःपर्यव ज्ञानी मनोगत होने पर भी अधिक शुद्धता के साथ भिन्न भिन्न भेदों से जान सकता है। जो सूक्ष्म रूपी द्रव्य अवधि ज्ञानी नहीं देख सकता है, उसे भी मनःपर्यव ज्ञानी देख सकता है (२) अवधि ज्ञान जघन्य अंगुल के असंख्यात में भाग जितना क्षेत्र देखे उतना उपजता है, और उत्कृष्ट संपूर्ण लोक से भी अधिक उपजता है, परन्तु मनःपर्यव ज्ञान तो एक दम अढ़ाई द्वीप देखे उतनाही उपजता है, ज़्यादा कम नहीं (३) अवधि ज्ञान सर्व सन्नी पंचेंद्रिय को होता है, और मनःपर्यव ज्ञान केवल विशुद्धाचारी संयमी को ही होता है, अन्य को नहीं।

(५) केवल ज्ञान।

अपने शुद्ध आत्म द्रव्य का भले प्रकार श्रद्धान करने और आचरण करने रूप एकाग्र ध्यान के द्वारा केवल ज्ञान को आच्छादित करने वाले ज्ञानावरणीय आदि चार घन घातिक कर्मोंका नाश होने पर जो उत्पन्न होता है, एक समय में ही सर्व द्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव को ग्रहण करने वाला है, और जो सर्व प्रकार से उपादेय भूत–ग्रहण करने योग्य है, वह केवल ज्ञान है। जीवादि संपूर्ण द्रव्य तथा उनके पर्याय हैं, वे सब केवल ज्ञान के विषय हैं। केवल ज्ञान लोक तथा अलोक सर्व विषयक है, और सर्व भावों का ग्रहण करने वाला है। केवल ज्ञान से बढ़ कर कोई भी ज्ञान नहीं है, और संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो केवल ज्ञानसे प्रकाशित न हो। तात्पर्य यह है कि–संपूर्ण विषयों को और संपूर्ण विषयों के संपूर्ण स्थूल तथा सूक्ष्म पर्यायों को केवल ज्ञान प्रकाशित करता है। केवल ज्ञान परिपूर्ण है, समग्र है, असाधारण है, अन्य ज्ञानों से निरपेक्ष है–अर्थात् निज विषयोंको अन्य की अपेक्षा के विना स्वयं सबको प्रकाशित करता है, विशुद्ध है, सर्व दोषों से रहित है, सर्व भावों का जानने वाला है, लोकालोक विषयक है, और अनंत पर्याय वाला है। अर्थात् सर्व द्रव्यों के अनंत पर्यायों का यह प्रकाशक है।

यह पांच ज्ञान का संक्षिप्त कथन हुआ। इन पांच ज्ञानों में से एक काल में अगर एक ज्ञान पावे तो केवल ज्ञान, और दो ज्ञान पावेंतो मति श्रुति, और तीन ज्ञान पावें तो मति श्रुति अवधि, और चार ज्ञान पावें तो मति श्रुति अवधि और मनःपर्यव। इस से अधिक ज्ञान एक जीव को एक समय में नहीं पावें। यह ज्ञान आश्रित हुवा।

चार दर्शन का स्वरूप।

अब दर्शन आश्रित कहते हैं। ज्ञान का स्वरूप तो सविकल्पात्मक है और ज्ञानसे जाने हुये विषयों में निर्विकल्पता–निश्चयता करने वाला दर्शन कहलाता है। यह आत्मा निश्चय से निज सत्तारूप में तो अधो मध्य और ऊर्ध्व तीनों लोक में तथा भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल में द्रव्य सामान्य को ग्रहण करने वाला जो पूर्ण निर्मल केवल दर्शन स्वभाव है, उसका धारक है। परन्तु अनादि कर्म–बन्ध की विविधता के कारण चार प्रकार का है। (१) चक्षु दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अर्थात् नेत्र द्वारा जो दर्शन होता है उस को रोकने वाले कर्म के क्षयोपशम से और वहिरंग द्रव्य के आलम्बन से, मूर्त सत्ता सामान्य को–जो कि संव्यवहार से प्रत्यक्ष है, तथापि निश्चय से परोक्ष रूप है–एक देश से विकल्प रहित–यथार्थ रूप से देखने वाला चक्षु दर्शन है। (२) वैसे ही स्पर्शन, रसन, घ्राण, तथा श्रोत्रेन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से और अपने–अपने वहिरंग द्रव्येन्द्रिय के अवलम्बन से, मूर्त सत्ता सामान्य को परोक्ष रूपेण एक देशसे जो विकल्प रहित देखता है वह अचक्षु दर्शन है। इसी प्रकार मन इन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से, तथा सहकारी कारण भूत जो आठ पांखडियों वाले कमल के आकार का द्रव्य मन है उस के अवलम्बन से, मूर्त तथा अमूर्त ऐसे समस्त द्रव्यों में विद्यमान सत्ता सामान्य को परोक्ष रूपसे विकल्प रहित जो देखता है वह मन से अचक्षु दर्शन है, (३) और जो अवधि दर्शनावरण के क्षयोपशम से मूर्त वस्तु में प्राप्त सत्ता सामान्य को एक देश प्रत्यक्ष से विकल्प रहित

देखता है वह अवधि दर्शन है (४) और सहज शुद्ध चिदानन्द रूप एक स्वरूप का धारक परमात्मा है, उसके तत्व के बल से केवल दर्शना वरण कर्म के क्षय होने पर मूर्त अमूर्त समस्त वस्तुओं में प्राप्त सत्ता सामान्य को सकल प्रत्यक्ष रूप से एक समय में विकल्प रहित जो देखता है उसको केवल दर्शन कहते हैं।

यह आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन है सो सामान्य रूपसे जीव का लक्षण है। इसमें संसारी जीवकी और मुक्तजीव की विवक्षा नहीं है। तथैव शुद्ध अशुद्ध ज्ञान की भी विवक्षा नहीं है, मात्र वहां तो व्यवहार नयकी अपेक्षा से जीवके सामान्य लक्षण का कथन किया गया है। यहां केवल ज्ञान केवल दर्शन के प्रति तो शुद्ध सद्भूत शब्द से वाच्य अनुपचरित सद्भूत व्यवहार है। और कुमति कुश्रुत विभंग अवधि—इन तीनों में उपचरित सद्भूत व्यवहार है। और शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध अखण्ड केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन ये दोनों ही जीव के लक्षण हैं।

और भी यहां ज्ञान दर्शन रूप योग की विवक्षा में उपयोग शब्द से विवक्षित जो पदार्थ है, उस पदार्थ के ज्ञान रूप वस्तु के ग्रहण रूप व्यापार का ग्रहण किया जाता है। और शुभ अशुभ तथा शुद्ध इन तीनों उपयोगों की विवक्षा में तो उपयोग शब्द से शुभ अशुभ तथा शुभ भावना एक रूप अनुष्ठान जानना चाहिये। यहां पर सहज शुद्ध निर्विकार परमानन्द रूप एक लक्षण का धारक साक्षात् उपादेय भूत जो अक्षय सुख है उसके उपादान कारण होने से केवल ज्ञान और केवल दर्शन ये दोनों उपादेय हैं। इस प्रकार गुण और गुणी अर्थात् ज्ञान और आत्मा इन दोनों के एकता रूप से भेद का निराकरण करने के लिये उपयोग का व्याख्यान द्वारा वर्णन किया गया है।

शुद्ध उपयोग का फल।

यह तो मात्र ज्ञानों के भेदोपभेदों पर ही उपयोग लगाने के प्रति दर्शाया है परन्तु ऐसेही या अपनी बुद्धि की हीनाधिकता के अनुसार

श्रवण पठन मनन करना चाहिये तथा हर वक्त ज्ञान वैराग्यादि गुणों से अति पूर्ण ज्ञातों एवं वर्तावों का अंतः करण में ज्ञानोपयोग युक्त वारम्बार विचार करना चाहिये। वशिष्ठ ऋषिने रामचन्द्रजी से कहा है "विचारः परमं ज्ञानं" अर्थात् विचार है, सोही परम ज्ञान है। विचार से ही विचार शक्ति बढ़ती है। और जो जो पूर्वधारी द्वादशांग के पाठी श्रुत केवली एवं केवल ज्ञान तक ज्ञान ऋद्धि को प्राप्त करने वाले महात्मा हुये हैं, वे सब ज्ञानोपयोग विचार शक्ति की प्रबलता से ही हुये हैं। श्री वीर प्रभु ने फरमाया है:—

सूत्र—अणुप्पेहाणं आउयवज्जाओ सत्त कम्म पयडिओ थणिय वन्धण वंधाओ सिढिल वंधण वधाओ पकरेइ, दीह काल ठियाओ रहस्स काल ठियाओ पकरेइ, बहू पएसगाओ अप्पपयसगाओ पकरेइ, आउयचणं कम्मं सिय वधइ सिय नो वंधइ, असाय वेयणिज्जं च णं कम्म नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ अणाइय चे णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंत ससार कतारं खिप्पामेव वीईवयइ ॥ ३२ ॥

—उतराध्ययन, अ २९.

अर्थात्—बारम्बार ज्ञान पर उपयोग लगाने से-ज्ञानाभ्यास करने समय उपयोग शक्ति की सर्व सत्ता अन्य तरफ से हटाकर ज्ञान के अर्थ परमार्थ में ही एकाग्र तया लगाने से-उसके अर्थ रहस्य का रस पूर्णतया आत्मा में परगमाने से और दीर्घ दृष्टया उसका तात्पर्य अर्थ ढूंढ कर निकालने इत्यादि रीति से, ज्ञान में रमणता करने वाला जीव आयुष्य कर्म को छोड़कर बाकी के सात कर्मों की प्रकृति, जो पहिले निबड़ यानी मजबूत बान्धी हो उसे शिथल (ढीली जलदी से छूट जाय ऐसी) करे, बहुत काल तक भोगणा पड़े ऐसा बन्ध बांधा हो उसे थोड़ेही काल में छुटकारा होजाय ऐसी करे, तीव्र भाव (विकट रस से उदय में आवें ऐसा) बांधा हो उसे मंद भाव (सहज में भोगवाय ऐसी) करे, आयुष्य कर्म कदाचित कोई बांधे कोई नहीं भी बांधे, क्योंकि आयुष्य कर्म का बन्ध एक भव में दो बार नहीं पड़ता है। असाता वेदनीय (रोग-दुःख देने वाला) कर्म बारम्बार नहीं बांधे। और चार गति रूप संसार कान्तार का मार्ग, जो आदि रहित और मुशकिल से पार पाने जैसा है, उसे शीघ्र

अतिक्रमे—उल्लंघे अर्थात् बहुत ही जलदी मोक्ष के अनन्त सुख प्राप्त करे।

मुमुक्षुओ ! देखिये परम पूज्य श्री महावीर परमात्मा ने, परमात्म पद प्राप्त होने के उपाय स्वरूप ज्ञान में उपयोग लगाने का कितने विस्तार से वर्णन किया है। इसे ध्यान में लीजिये !

और भी विचारिये। किसी भी शुभ एवं शुद्ध क्रिया के विषय में प्रवृत्ति की जाती है तो वह स्वल्प काल तक ही होकर छूट जाती है, और उसे करते समय मध्य में अनेक संकल्प विकल्प उत्पन्न होते ही रहते हैं, जिससे उस क्रिया के फल में न्यूनाधिकता होती रहती है। इसी कारण भगवंत ने क्रियावंत को देश आराधक कहा है। और ज्ञानी का चित्त ज्ञान में अहर्निश लगा रहने से अन्य तरफ जाने वाली वृत्ति स्वाभाविक ही रुक जाती है—उस ज्ञान के अर्थ परमार्थ के भंग तरंग में उछरंग करती हुई रहती है—जिससे अन्य तरफ प्रवृत्त मन आदि योगों का स्वाभाविक ही आकर्षण हो जाता है—अंतर्हृदय में एकाग्रता आजाती है। उस समय अनन्तानन्त कर्म वर्गणा के पुद्गलों का समूह आत्म प्रदेश से अलग होता है। आत्मा अत्यन्त शुद्ध बनता है। इसी कारण भगवंतने फरमाया है, कि ज्ञानी सर्व आराधक है। और भी चौथ छठ अष्टम आदि तप के कर्ता बहुत काल में कर्म बन्ध का नाश करते हैं, और वही कर्म ज्ञानी जन ज्ञान में उपयोग लगाने से किंचित काल में दूर कर देते हैं, क्योंकि ज्ञानी किसी अन्य प्रकार की क्रिया भी जो कर रहे हैं तो भी उनका उपयोग एवं सर्व वृत्तियां ज्ञान में ही रमण करती हैं, जिससे किसी अन्य कार्य में पुद्गलों के परिणाम में लुब्धता नहीं होती है। इस कारण वे पुद्गल बन्धन रूप नहीं होते हैं। इसलिये ही कहा है कि ज्ञान विना की सब क्रिया निरर्थक है, अर्थात् पुण्य प्रकृति का उपार्जन भलेही हो जावो, परन्तु मोक्ष नहीं देसके। ऐसे परमोपकारी ज्ञान में जो बारम्बार उपयोग लगाता है—रमण करता है वही जीव परमात्म मार्ग में प्रवृत्त हुआ परमात्म पद प्राप्त करता है।

—ध्यानारूढं समरसयुतं, मोक्ष मार्ग प्रविष्टं।
शान्तं दान्त सुमति सहितं, योगवन्हौ हुताक्षम्॥

धर्मापिन्नं क्षतमदमदं जीवतत्वे निमग्नं ।
तत्सर्वज्ञास्त्रिभुवननुताह्यन्तरात्मानमाहुः ॥

अर्थात्—जो महात्मा शुद्ध ध्यानारूढ़ हैं, समता रूप रस से जिन की आत्मा आर्द्र है, शांत स्वभावी हैं, मनको दमन करके स्ववश किया है, सदा सुमति–सुबुद्धि युक्त है, योग रूप अग्नि में काम रूप शत्रु का दहन किया है, धर्मका प्रसार करने में तत्पर हैं, अभिमान का नाश कर दिया, अपनी प्रबल प्रज्ञा से जीवादि सर्व तत्वों के यथार्थ कोविद हैं, और तत्वों के ज्ञान में ही सदा निमग्न तल्लीन रहते हैं, सर्वज्ञों ने इन्हीं को अंतर आत्मा के धारक कहा है। ऐसे महात्मा त्रिभुवन में थोड़ेही होते हैं और ये ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

परमात्म पद प्राप्त कराने वाला शुद्ध ज्ञानमय उपयोग, सम्यक्त्वी जीवों का ही प्रवर्तता है। इस लिये आगे सम्यक्त्व का स्वरूप बताने की अभिलाषा रख, इस प्रकरण को पूरा करता हूँ।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का
"ज्ञान उपयोग" नामक नवम प्रकरण समाप्त।

प्रकरण—दशवाँ

—:०:—
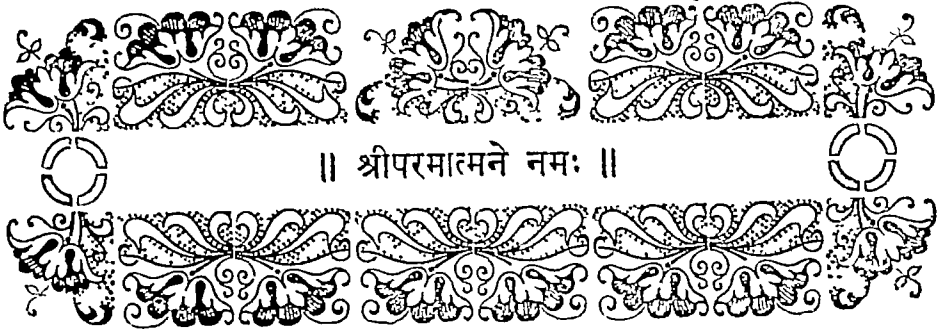
" दंसणं—सम्यक्त्व "

सकल सुख निधानं धर्म वृक्षस्य बीजं,
जनन जलधिपोत भव्यसत्वैक पात्रं ।
दुरित तरु कुठारं ज्ञान चारित्र मूलं,
त्यज सकल कुधर्मं दर्शनं त्वं भजस्व ।

तात्पर्य—अहो भव्य जनों ! सर्व सुख का निधान, धर्म रूप वृक्ष का बीज, भव रूप समुद्र के पार पहुंचाने वाला जहाज, पापरूप कंटक वृक्ष का उच्छेद करने वाला कुठार, और ज्ञान चारित्र का मूल जो सम्यक्त्व है, जिसका आराधन भव्य जीव ही कर सकते हैं, इसलिये तुम भी सर्व कुधर्म का त्याग कर सम्यक्त्व को अंगीकार करो !

श्री भगवंत ने मोक्ष प्राप्त करने के चार अंग फरमाये है, जिसमें के प्रथम अंग ज्ञान का तो यत्किंचित स्वरूप नववें प्रकरण में किया जाचुका है, अब द्वितीय अंग जो दंशण—सम्यक्त्व नामक है, उसका स्वरूप दरशाया जाता है ।

मूल शब्द---" दंसण " है। इसका अर्थ दर्शना यानी अंतःकरण में देखना, ऐसा होता है। यह देखना दो तरह से होता है-अयथार्थ और यथार्थ। जैसे पीलिये रोग वाला श्वेतरंग के वस्त्र को भी पीत (पीले) वर्ण का देखता है, तैसे ही जीव अनादि मिथ्यात्व रूप रोग के कारण जीवादि नव ही पदार्थ को अयथार्थ—विपरीत श्रद्धता है। अर्थात् जड़ में चैतन्यता, चैतन्य में जड़ता, पाप के कृत्य को पुण्य कृत्य, पुण्य के कृत्य को पाप कृत्य, आश्रव के कामों को संवर के काम, संवर के कामों को आश्रव के काम, निर्जरा को बंध और बंध को निर्जरा, संसारस्थ को मोक्षस्थ और मोक्षस्थ को संसारस्थ बताता है। यों नव तत्व पदार्थ आदि के विपरीत श्रद्धान को मिथ्या दर्शन कहते हैं। इस दर्शन के साथ जीवों का अनादि सम्बन्ध है। और इस संसार में ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं, जिनमें से कितनेही जीव अकाम निर्जरा करके मोहनीय कर्म की सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर की स्थिति, ज्ञानावरणीय दर्शना वरणीय और अन्तराय इनकी तीस कोड़ा कोड़ सागर की स्थिति, वेदनीय नाम और गोत्र की बीस कोड़ा कोड़ सागर की स्थिति, और आयुष्य कर्म की तेतीस सागर की स्थिति, यों सब १६० कोड़ा कोड़ सागर और ३३ सागर परिमाण आठ कर्मों की स्थिति का क्षय कर लेनेपर जब मात्र एक कोड़ा कोड़ सागर में भी एक पल्य के असंख्यातवें भाग कम स्थिति रहजाय, तब यथा प्रवृत्ति करण को प्राप्त होते हैं अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त करने के सन्मुख आते हैं। यहां तक तो अभव्य जीव भी (जो कदापि मोक्ष प्राप्त नहीं करे) आसकता है। और द्रव्य ज्ञान, द्रव्य दर्शन, द्रव्य चारित्र और द्रव्य तपकी आराधना कर सकता है। परन्तु गंठी भेद हुये बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं कर सकता है।

इस स्थान से आगे बढ़ते हुये जीव, अन्तर मुहूर्तानन्तर अपूर्व करण करते हैं, कि जो पहिले कभी जीवको नहीं हुआ है। यहां ग्रन्थि भेद होता है, और यहां अंतर मुहूर्त काल रहने के बाद आगे अनिवृत्ती करण होता है, जो [illegible] ही अर्ध पुद्गल परावर्तन पीछे मोक्ष देता है।

इन तीनों ही करणों का स्वरूप दर्शाने के लिये यहां एक दृष्टांत

कहते हैं–जैसे तीन साहूकार धन की गठड़ी लेकर विदेश में जाते थे, रास्ते में दो चोर मिले। चोरों को देखकर एक तो पीछा भाग गया, एक को चोरों ने मार कर धन लूट लिया, एक अपने बल से चोरों को मार कर अपने माल सहित इच्छित स्थान पहुँच गया। भावार्थ–सम्यक्त्व प्राप्त करने के प्रति प्रवृत्त तीन प्रकार के जीवों को संसार रूप जंगल में राग द्वेष रूप चोरों ने घेरा। यथा प्रवृत्ति करण वाला पुनः संसार परिभ्रमण में पड़ गया, अपूर्व करण वाला राग द्वेष रूप चोरों के वश में पड़ा छूटने का अभिलाषी है, और अनिवृति करण वाले ने राग द्वेष रूप चोरों को मारकर सम्यक्त्व रूप नगर प्राप्त किया।

अपूर्व करण में प्रवृत्त जीव, मिथ्यात्व की राशि के तीन पुंज करता है। एकान्त अशुद्ध सो मिथ्यात्व मोहनीय, शुद्धा-शुद्ध सो मिश्र मोहनीय और शुद्ध (अपेक्षा से) सो सम्यक्त्व मोहनीय। और अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया तथा लोभ। इन सात ही प्रकृतियों में से जो उदय में आई हैं, उनका क्षय करे और जो उदय में नहीं आई है, उनको उपशमावे, उस समय क्षयोपशम सम्यक्त्वी गिना जाता है। यह सम्यक्त्व असंख्याती बार आती है और चली जाती है। यदि सातों ही प्रकृतियों को उपशमावे तो उपशम सम्यक्त्वी गिना जाता है। यह एक भव आश्रित दो बार और बहुत भव आश्रित पांच बार आती है। इस उपशम सम्यक्त्व से पतित होता हुआ जीव, जबतक मिथ्यात्वको नहीं प्राप्त होता है, तबतक मध्य में जो ६ आवलिका ७ समय जितना काल रहता है, उसे सास्वादान सम्यक्त्व कहते हैं। और क्षयोपशम सम्यक्त्व से आगे बढ़ता हुआ जीव, जब सातोंही प्रकृतियों को क्षय करने के लिये प्रवृत्त होता है, तब समय मात्र वेदक सम्यक्त्व गिनी जाती है। फिर सातों प्रकृतियों को क्षय करते ही क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होती है। यह सम्यक्त्व एक ही बार आती है, आये पीछे जाती नहीं है।

नरत्वेऽपि पशूयंते मिथ्यात्व ग्रस्त चेतसः।
पशुत्वे ऽ पि नरायन्ते सम्यक्त्व व्यक्त चेतनाः॥

अर्थ—जिस मनुष्य के हृदय में मिथ्यात्व ने निवास किया है,

वह पशु जैसा है। और जिस पशुके हृदय में सम्यक्त्वने निवास किया है, वह मनुष्य जैसा है। देखिये, सम्यक्त्वका महत्त्व।

यह तो सम्यक्त्व के भेदों का यत्किंचित् वर्णन किया।

अब सम्यक्त्वी को किन किन दोषों का त्याग करना चाहिये, सो बताते हैं:—

द्रव्यादिकमथासाद्य, तज्जीवैः प्राप्यते क्वचित्।
पंचविंशतिमुत्सृज्य, दोषास्तच्छक्तिघातकम्॥

अर्थात्—सम्यक्त्व रूप रत्न की प्राप्ति होने के वास्ते प्रथम तो द्रव्य शुद्धि चाहिये, अर्थात् आत्मा में भव्यत्व एवं संज्ञित्व चाहिये, क्योंकि भव्य जीव और सन्नी पंचेन्द्रिय के विना अन्य जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। दूसरा आर्य क्षेत्र में उत्पन्न होने का संयोग होना चाहिये; क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्त करने के सद्गुरू सद्बोधादि प्रसंगों का संयोग आर्य क्षेत्र में ही होता है। तीसरा मोक्ष प्राप्ति के लिये अधिक से अधिक अर्ध पुद्गल परावर्तन जितना ही काल संसार परिभ्रमण का बाकी रहना चाहिये, क्योंकि सम्यक्त्वी जीव संसार में अधिक परिभ्रमण करता ही नहीं है। और चतुर्थ कारण उपरोक्त कथनानुसार प्रकृतियों की उपशमता एवं क्षयता होना चाहिये। ऐसे चार संयोग मिलने के अनंतर जीव के २५ दोषों का घात होता है। इसके लिये देखिये—

"सम्यक्त्व के २५ दोष"

मूढ त्रयं मदश्चाष्टौ, तथाऽनायतनानि षष्ठ।
अष्टौ शंकादयश्चेति, दृग्दोषाः पंच विंशतिः॥

अर्थात्—तीन मूढता, आठ मद, छः अनायतन, और शंकादि आठ दोष, इस प्रकार २५ दोष सम्यक्त्व के होते हैं।

३ मूढता।

(१) देव मूढता—अनंत ज्ञानादि गुण—सहित और मिथ्यात्व अज्ञानादि अठारह दोष रहित, ऐसे श्री वीतराग सर्वज्ञ देव के स्वरूप को नहीं जानता हुआ जीव, यशः लाभ स्त्री पुत्र राज्य सुख आदि संपदा की प्राप्ति के लिये जो राग द्वेष युक्त, आर्त रौद्र ध्यान मय परिणाम के

धारक, क्षेत्रपाल, चंडिका, पीर, पेगंबर, भैरूं भवानी आदि मिथ्या दृष्टि देवों का आराधन करते हैं, सो देव मूढता जानना। क्योंकि कहा है "जे देवता आपणी आस राखे, ते मोक्ष ना सुख केम दाखे" अर्थात्—जो देव होकर मनुष्यों से अपनी पूजा करा कर, या नारियल आदि कुछ बदला ले कर, इच्छा पूर्ण करने वाले हैं, वे अपनी ही इच्छा पूरी नहीं कर सकते हैं, तो दूसरों की क्या करेंगे? और एक नारियल * जैसी तुच्छ वस्तु भी जो प्राप्त नहीं कर सकते हैं, तो वे सुख संपत्ति कहां से देवेंगे। तथा उन देवों को ऐसे भोले समझलिये हैं, क्या नारियल आदि जैसी कम कीमत की वस्तु के वदले में पुत्र आदि जैसे उत्तम पदार्थ तुम को दे देवेंगे। जो ऐसा विचार नहीं करते हैं तथा देवोंकी आराधना करते हैं सो देव मूढता।

(२) लोकमूढ़ता—गंगा आदि नदियों को तीर्थ जान कर स्नान करना, ग्राम पहाड़ घर आदि स्थानों को तीर्थ मानकर उनके दर्शनार्थ भटकते फिरना, प्रातः समय आदि में स्नान आदि पाप कार्य किये विना धर्म होवे नहीं ऐसी बुद्धि धारण करना, गौ आदि पशुओं में और बड़ पीपल आदि वृक्षों में देव का निवास मानकर उन्हें पूजना, इत्यादि कार्यों में धर्म बुद्धि या पुण्य बुद्धि रखना सो लोक मूढ़ता है। क्योंकि अज्ञानी जनही परमार्थ से अन जान होकर उपरोक्त कर्तव्य करते हैं, परन्तु सम्यक दृष्टियों को विचारना चाहिये कि जो स्नानादि करने से पापकी शुद्धि होती हो तो फिर दुनियां में जाति भेद रहेही नहीं; क्योंकि चांडाल आदि नीच जाति के मनुष्यों को भी स्नान कराके पवित्र—उत्तम जाति वाले बना लेवें और अपवित्र वस्तु को पवित्र बना कर भोग लेवें। अजी कड़वी तूम्बी को सब तीर्थों के पाणी में पखाली तो क्या वह मीठी होती है? कदापि नहीं, तो जो तूम्बी भी मीठी नहीं होती है तो यह रुधिर

---

* पद—देवके आगे बेटा मांगे। तब तो नारेल फूटे॥
गोटे-गोटे आपही खावे, उनको चडावे न रोटे।
जगचले उपरांठे, झूठे को साहेब कैसे भेटे॥
—कबीरजी

शुक्र से उत्पन्न हुआ, हाड मांस रक्त विष्ठा मूत्र से भरा हुआ शरीर कैसे पवित्र होगा ? और जब शरीर ही पवित्र नहीं होता है तो फिर पाप रूप मलका नाश करके मनको पवित्र बनाने की सत्ता तो तीर्थ के पाणी में कहाँ से हो सकती है ? देखिये, मनुजी क्या कहते हैं—

यामो वैवस्वतोराजा , यस्तवैष हृदि स्थितः ।
तेनचेद् विवादन्ते, मा गंगा मा कुरु गमः ॥ १ ॥
यस्य हस्तौ च पादौ च, मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च तीर्थश्च, स तीर्थमलमश्नुते ॥ २ ॥
अशनं व्यसनं चैव, गंगातीर कुमागर्तः ।
कीकटेन समा भूमिः, गंगा चांगार वाहिनी ॥ ३ ॥

अर्थात्—अरे मनुष्य ! यह जो अन्तर्यामी तेरे हृदय में हैं, यदि तुझे इस बात का विवाद नहीं है तो तू गंगा कुरू क्षेत्र आदि तीर्थों को मत जा ॥ १ ॥ जो हाथ पैर इन्द्रिय और वाणी को नियम में रखकर विद्या और तप रूप तीर्थ करता है, उसे दूसरे तीर्थों से कुछ भी जरूरत नहीं है ॥ २ ॥ जो गंगा आदि तीर्थों में जाकर पाप कार्य करता है वह नदी के किनारे के कीकट (कीड़े) तुल्य हैं और जले हुये अंगारे के तुल्य हैं । लीजिये भाई और इससे भी ज़्यादा क्या कहें । *

और श्री जिनेश्वर भगवान ने फरमाया है कि " न हू जिणो अज्ज दीमइ " अर्थात्—पंचम काल में तीर्थंकर दृष्टि गोचर नहीं होंगे तथा मोक्ष गये जीवों की पुनरावृति नहीं होती है । परन्तु फिर भी जो

---

* आत्मा शुद्ध तो तपश्चर्या से होती है, देखिये ऋषिकुल ग्रन्थ—

—कैवर्ती गर्भ संभूतो , व्यासो नाम महा मुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जातः , तस्माज्जातिरकारण ॥ १ ॥
चांडालीगर्भ संभूतो , विश्वामित्रो महामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जातः , तस्माज्जातिरकारण ॥२॥

अर्थात् तपश्चर्या से आत्मा पवित्र करके धीवरणी और चांडालनी की कुक्षि से उत्पन्न हुये व्यासजी और विश्वामित्रजी, ब्राह्मण के तथा महा ऋषि के पद को प्राप्त हुये हैं ।

पहाड़ों और ग्रामों में देव धोकते फिरते हैं, और ग्रहण आदि प्रसंगों में पाणी ढोलते हैं, सो लोक मूढ़ता।

इस मूढता को छोड़कर, अष्ट पाहुड सूत्र के चौथे बोध पाहुड के कथनानुसार तीर्थ करना चाहिये:—

—जं णिम्मलं सुधम्मं , सम्मत्तं सजमं तव णाण ॥
तं तित्थजिणमग्गो , हवेइ ज दीसंति भावेण ॥ २ ॥

श्री जिनेश्वर के मार्ग में तो क्षमादि दश प्रकार का निर्मल शुद्ध यतिधर्म तथा तप संयम ज्ञान ध्यान, इन्हीं को तीर्थ (संसार से पार पहुंचा ने वाले) कहा है। यही सच्चा तीर्थ है।

(३) "समय मूढता" शास्त्र सम्बन्धी अथवा धर्म सम्बन्धी जो बुद्धि की विपरीतता होती है, उसे समय मूढ़ता कहते हैं। जैसे अज्ञानी लोकों के चित को चमत्कार करने वाले ज्योतिष, मंत्र वाद तथा कुकथा के शास्त्रों को सुनकर देखकर, श्री वीतराग सर्वज्ञ द्वारा सत् शास्त्रों को छोड़कर मिथ्यात्वी देव को माने, मिथ्या आगम को पढ़े सुने, खोटा तप करे, तथा खोटा तप करने वाले कुलिंगी—साधुओं को धर्म जान के नमस्कार विनय पूजा सत्कार आदि करे, उन सबको समय मूढ़ता कहा है। क्योंकि सुख दुःख तो कर्माधीन हैं। मंत्र आदिक का जो ढोंग करते हैं, उसमें विशेष तो हाथ चालाकी ही होती है, अगर किसी देव योग से कदापि कोई कार्य हुआ तो उससे क्या सिद्धि होने की है? और जो कुलिङ्गी आश्रव रूप नाले को रोके विना अज्ञान तप करते हैं तथा अग्नि इंधन वनस्पती के आश्रित असंख्यात अनंत जीवों का वध करते हैं, उन्होंने कितना भी शरीर को कष्ट दिया हो तो भी वे गुरुपद के लायक नहीं हैं। और जिन शास्त्रों में मिथ्या कथा का संग्रह किया हो और अन मिलते गपोड़े भरे हों, वे सत्य शास्त्र कदापि नहीं होते हैं। क्योंकि सभी मतावलंबी धर्म का मूल दया कहते हैं और फिर हिंसाकरके धर्म श्रधते हैं, सो प्रत्यक्ष ही मूढ़ता मालूम होती है।

—अहो व्यसन विध्वस्तैः लोकः पाखण्डिभिर्बलात् ।
नीयते नरकं घोर हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥ १६ ॥

—ज्ञानार्णव सर्ग ८

अर्थात्–खेद तथा आश्चर्य है कि धर्म तो जगत् में दयामय प्रसिद्ध है, परन्तु विषय कषाय से पीड़ित पाखंडी जन, हिंसा का उपदेश देने वाले शास्त्रों की रचना करके जगत् के जीवों को बलात्कार रूपसे नर्क में लेजाते हैं। यह बड़ाही अनर्थ है!

यह तीनों ही मूढता का स्वरूप बताया। सम्यक् दृष्टि जीव, सम्यक् प्रकार से जान कर इससे सर्वथा निवर्तते हैं, और मन वचन काया की शुद्धि रूप जो वीतराग सम्यकत्व है, उसके निरूपण में अपना निरंजन तथा निर्दोष जो परमात्मा है, वही देव हैं–ऐसी जिनकी निश्चल बुद्धि हुई है, उनको देव मूढता से रहित समझना चाहिये। तथा मिथ्या राग आदि रूप जो मूढभाव है, उसका त्याग करने से निज शुद्ध आत्मा में जो स्थिति प्राप्त है, वही लोक मूढता से रहित पना समझना चाहिये। इसी प्रकार संपूर्ण शुद्ध तथा अशुद्ध जो संकल्प विकल्पता रूप पर भाव हैं, उनके त्याग रूप जो विकार रहित वास्तविक परमानन्दमय परम समता भाव है, उससे निज शुद्ध आत्मा में ही जो सम्यक प्रकार से गमन अथवा परिरमण करना है, उसको समय मूढता से रहित समझना चाहिये।

आठ मद।

जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप, श्रुति–इन आठोंही मदोंका सम्यक दृष्टियों को त्याग करना चाहिये।

(१) "जातिमद" निश्चय में जीव की कोई भी जाति नहीं है, सदा एकही रूप का धारक आत्मा है। परन्तु व्यवहार रूपेण कर्मों के प्रसंग से चौरासी लक्ष योनियों में अलग अलग जाति को प्राप्त होता है। वहां पुण्य की प्रबलता के कारण मनुष्य जन्म और क्षत्री वैश्य विप्र पटेल आदि जाति प्राप्त होने से मिथ्या दृष्टि अहंता करता है, कि मै ऐसा उत्तम जातिवंत हूँ। पर सम्यक् दृष्टि, इसे कर्म की विचित्रता का कारण जानकर, ऊंच नीच जाति को प्राप्त होकर भी सदा निरभिमानी नम्रभाव-युक्त रहते हैं।

(२) "कुल मद" कुल पिता के पक्ष को कहते हैं। ये जगत् में एक क्रोड़ साडे सताणवें लाख कोटी (१९७५०००००००००००००) कुल हैं। उक्त कुलों में इस जीव को जन्म मरण करते करते कभी किसी पुण्योदय से ऊँच कुल की प्राप्ति होगई तो क्या हुआ, क्योंकि जो कुल का गर्व है सो पीछे उस कुलाभिमानी को गिरा कर नीच कुलों में डाल देता है। ऐसा जानकर सम्यक्त्वी प्राणी ऊँच कुल में जन्म लेकर भी मद नहीं करते हैं।

(३) "लाभ मद" लाभालाभ तो लाभान्तराय कर्म के उदय अनुदय से होता है। लाभान्तराय कर्म दूसरे के लाभ में अन्तराय देने से वन्धता है, सो भोगनाही पड़ता है। अर्थात् लाभान्तराय के उदय होने से इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है। और जिन्होंने अपनी प्राप्त वस्तु का बहुतों को लाभ दिया है वे जीव लाभान्तराय तोड़ने हैं, उनको सर्व इच्छित पदार्थ मिलते हैं। ऐसा जानकर सम्यक्त्वी जन, प्राप्त वस्तु का गर्व नहीं करते हैं और दान देते हैं।

((४) "ऐश्वर्यमद" ऐश्वर्य प्रभुत्व को कहते हैं। ज्ञान दृष्टि से देखते हैं तो कोई किसी का नाथ यानी प्रभु नहीं है, क्योंकि सब जीव अपने अपने कर्म से ही सुखी दुःखी हो रहे हैं, कोई भी किसी को सुखी करने और दुःख से वचाने को समर्थ नहीं है, तो फिर प्रभुत्व किस बात का? अस्तु प्रभुत्व को मेले तमासे जैसा सम्बन्ध जानकर सम्यक्दृष्टि ऐश्वर्यवंत होकर भी गर्व नहीं करते हैं।

(५) "बल मद" वीर्यान्तराय का नाश होने से तीर्थंकर भगवंत अनंत वली होते है। उनकी कनिष्ठा अंगुली को अनंत इन्द्र मिलकर भी नमा नहीं सकते हैं। ऐसे पराक्रमी होने परभी घोर उपसर्ग के करने वाले एवं मरणान्त जैसे संकट के करने वाले पर भी कभी क्रूर विचार नहीं करते हैं, तो अन्यका तो कहना ही क्या? ऐसे पराक्रमी और ऐसे शील स्वभावी के आगे अन्य का बल कौनसी गिनती में है, ऐसा जानकर सम्यक दृष्टि समर्थ होकर भी गर्व नहीं करते है और न किसी को दुःख देते हैं।

(६) "रूप मद" इस गंदे शरीर का कदाचित् गौर आदि रंग होगया और चमकती हुई चमड़ी दीखने लगी, तो भी अन्दर तो अशुचि का भंडार ही भरा है। * चमड़े का टुकड़ा या चमड़े के अन्दर की कोई भी वस्तु निकाल कर देखने से कितनी मनोहर लगती है, इसका जरा विचार कीजिये। इस प्राण प्यारे शरीर के अन्दर रहे हुये रोगों में से यदि कभी पापोदय से एक भी रोग प्रगट होजाय तो इस शरीर को कुत्ते भी न सूंघें! इस शरीर को ऐसा गंदा जानकर सम्यक् दृष्टि रूपवंत होकर भी गर्व नहीं करते हैं।

(७) "तप मद" तपका उद्देश्य कर्म काटना ही है। उस का दूसरा फल यशः कीर्ति चाहना तो धर्म को ठगने जैसा है। इस अधम पने से न तो कर्म ही कटते हैं और न किसी सुख की प्राप्ति ही होती है। हां, लोगों में महिमा अवश्य हो जाती है। यह ऐसा मूर्ख पना हो जाता है कि जैसे कोड़ी के बदले में कोटि द्रव्य का रत्न दे देना। ऐसे ही अनन्त दुःख से मुक्त करने वाले तप को मात्र दो दिन की वाह वाह के लिये गवाँने जैसी मूर्खता सम्यक् दृष्टि कदापि नहीं करते हैं—निरभिमानतया गुप्त तप करके पूर्ण फल प्राप्त करते है।

(८) "श्रुति मद" श्रुति—ज्ञान का और मद—अभिमान का अनादि काल से वैर है। एक हो वहां दूसरा टिक ही नहीं सकता है। और कदाचित रह भी गया तो जो बलिष्ट होता है, वही प्रति पक्षी का सत्यानाश कर धूल में मिला देता है! फिर ज्ञान जैसे अत्युतम पदार्थ का नाश करने और अभिमान जैसे नीच शत्रु को अपने हृदय सदन में प्रवेश करने देना कदापि उचित नहीं है।

ये आठों ही मद अनेक दोषों से प्रति पूर्ण भरे हुये है, ऐसा जानकर उपरोक्त जाति आदि आठ ही उत्तम पदार्थों की जो पूर्वोपार्जित

* थूकरू लाल भरयो मुख दीसत, आख मे गोडरू नाकमे सेढो।
और ही द्वार मलीन रहे अति हाड़ के मांस के भीतर बेढो॥
ऐसे शरीर मे वास कियो तब एकसां दीसत ब्राह्मण ढेढो।
सुन्दर गर्व कहाँ इतने पर, काहे को तू नर चालत टेढो॥

पुण्योदय से प्राप्ति हुई है, उसे मद जैसे नीच मार्ग में व्यय नहीं करते हैं, धर्मोन्नति वैयाव्रत्य वगैरह शुभ मार्ग में लगाकर आत्मोद्धार करते हैं।

(६) अनायतन।

सम्यक्त्व आदि सद्गुणों के रहने के स्थान को आयतन कहते हैं। और जिस कार्य से सम्यक्त्वादि सद्गुणों का नाश हो उसे अनायतन कहते हैं। इस लिये सम्यक्त्वादि गुणों की रक्षा के लिये सम्यक् दृष्टि को अनायतनों से बचना चाहिये।

(१) "मिथ्यात्वी देवों की उपासना" जिनमें देव के गुण नहीं हों—और जो स्त्री, शस्त्र, भूषण, पुष्प, फल, राग—रंग, नाटक, सुगन्ध, भोगोपभोग, मदिरा मांस आदि के भोगने वाले हों—राग द्वेष, विषय, कषाय इत्यादि दुर्गुणों के धारक हों, ऐसे देवों की उपासना—भक्ति-पूजा कदापि नहीं करे। किसी समय लौकिक व्यवहार साधने के लिये गाढा गाढी प्रसंगों में फँसकर करना पड़े तो धर्म बुद्धि नहीं रक्खे, और सर्व के समक्ष स्पष्ट कहदे कि इस प्रसंग से यह काम मुझे करना पड़ता है। ताकि अन्य सम्यक् दृष्टि फंद में नहीं फँसें—अपनी सम्यक्त्व निर्मल रख सकें।

(२) "मिथ्यात्वी देवो के उपासको का परिचय" संगति की असर प्रायः अवश्य होकर रहती है, इसलिये भगवंत ने सम्यक्त्व के पंचम अति चार में फरमाया है कि "पर पाखंडी का सदैव परिचय किया होतो तस्स मिच्छामी दुक्कडं।" अतएव सम्यक्त्वी अन्य देवके पुजारियों—अन्यमतावलम्बी मिथ्यात्वी पाखंडियों का परिचय नहीं करते हैं, क्योंकि इस जीव का मिथ्यात्व के साथ अनादि सम्बन्ध है, इसलिये खोटी श्रद्धा सहज में ही जम जाती है, और भोले जीव गिर जाते हैं। तथा धर्म में अग्रगण्य पुरुष मिथ्यात्वी का परिचय करेंगे, तो उनको देखकर अन्य सम्यक् दृष्टि भी उनका परिचय करने लगेंगे, जिससे क्रमानुसार विशेष धर्म की हानि हो जाती है। कदाचित् व्यापार आदि प्रसंगों में मिथ्यात्वी का विशेष परिचय करने का आजाये और

आप उनसे विवाद करने को समर्थ न होवे तो, धर्म सम्बंधी चर्चा का विशेप प्रसंग न आनेदे–प्रयोजनातिरिक्त विशेप वार्तालाप एवं परिचय न करे। धर्म कार्यों में मुलाहजा न रक्खे, अपने भाग्य का भरोसा रक्खे कि लाभालाभ पुण्यानुसार होता है। कहा भी है—

(१)

जा दिन पाणी से पिंड भरयो, विधि लेख लिख्यो तिनही शिरमें।
उपत विपत खपत जिती न बधे न घटे तिल तितर में॥
स्वदेश तजो परदेश भजो किन वेष रहो अपने घर मे।
उदय राज कृपाल दयाल कहे पण एक अधीर वड़ी नर में॥

(२)

चिन्ता चित्त दे न यार, लेख लिख्यो सो तैयार,
यहां नकद व्यवहार, न उधार न करार है।
क्रोड़ जतन आकार, बधे घटे न लगार,
चंपा सोही होनहार, दीन दयार जो विचार है॥
मागे काय कुं गंवार, विन मांगे करनार,
देत लेले जो निहार, सर्व जीव संसार है।
मनमे संतोप धार, फिकर जिकर टार,
तेरे कर्म अनुसार, सब देत देन हार है॥

(३) "मिथ्या तप" कार्तिक पौषादिक शीत काल में प्रातः स्नान करने में कितनेही तप समझते हैं। तैसे ही तीर्थ स्नान में, पर्व ग्रहण के स्नान में, कंद मूल दूध फल मेवा मिष्टान्न आदि भक्षण में ही तप समझते हैं। अग्नि तापने में, पाणी में पड़े रहने में, कांटों व कीलों पर सोने बैठने में, तीर्थाटन में, हस्त पाद आदि अंगों को काष्ठवत् सूखा देने में, नख केश जटा बढाने में, इत्यादि अकार्य करने में, अन्य मतावलंबी तप समझते हैं। परन्तु सम्यक् दृष्टि ऐसे मिथ्या तप को देखकर लालायित नहीं होते हैं, क्योंकि ऐसे तप में असंख्य स्थावर और त्रस जीवों का बध होता है। और माल मशाले खाने से विषय की भी वृद्धि होती है। बहुत से आदमी कुहेतु देकर कहते हैं कि—आत्मा सो परमात्मा है,

अतः इसे तप आदि करके भूखों नहीं मारना चाहिये। ऐसे लोग स्वयं जानते भी हैं कि बड़े बड़े महर्षियों ने अत्यंत दुष्कर तप किये हैं और मोक्ष प्राप्ति के लिये तप परमावश्यक चीज है, तथापि पुद्गलानन्दी बनकर मिथ्योपदेश द्वारा भोले लोगों को भरमाते हैं। इस भाव में सम्यक् दृष्टि कदापि नहीं पड़ते हैं, उनका अनुकरण नहीं करते हैं।

(४) "मिथ्यात्वी तपस्वियों का परिचय" मिथ्यात्व मत के तपस्वियों में गुणों का होना तो मुशकिल है, परन्तु ढोंग अधिक होता है। और मिथ्यात्वियों का तप प्रायः अभिलाषा यानी फल की वांछा सहित होता है–अर्थात् भोजन, वस्त्र, धन, यशः, सुख, राज पद, वैकुंठ, वगैरह इस तप के प्रभाव से हमें मिलेगा, इस आशा से वे तपश्चर्या करते हैं।

मनहर

लीना कहे कूड जोग, रहा भुगत जो भोग,
पावों पडें मूढ लोग, खूब खाय दुध मट के।
केते होय के संन्यासी, नहीं आत्मा तपासी,
जो पे पाय पग फांसी, तरु वर तले लट के॥
केते छार में हो क्ष्वार, काट डाले कान फार,
शुभ हार गुन सार, फिरे तीर्थ को भट के।
चंपा विन मोड़े मन, निज विषे निज धन,
ताही के गवेषे बिन, थोथे कन फट के॥

इस लिये मिथ्यात्वियों का तप भगवंत की आज्ञा विरुद्ध गिना जाता है। अगर सम्यक् दृष्टि मिथ्यात्वियों का परिचय करेगा तो भगवंत की आज्ञा का उलंघन करने वाला गिना जायगा, और विशेष परिचय से उन के ढ़ोंग देखकर सत्य तप की श्रद्धा नष्ट करदेगा, तथा इस लोक के सुख में लुब्ध होकर मिथ्यातपों द्वारा सम्यक्त्व गवॉ देगा। इत्यादि कारणों से मिथ्या तपस्वियों का सत्कारसन्मान भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि मिथ्या तप की वृद्धि होने से मिथ्यात्व तथा हिंसा की वृद्धि होगी। और दूसरे ऐसे तपों में धराभी क्या है ? देखिये—

—जटा धरे वट वृक्ष, पतंग वाले निज काया।
जलचर जल में न्हाय, ध्यान धरवा वग धाया।
गाडर मुंडावे शीश, अजा मुख दाढी राखे।
गर्दभ लोटे छार, शुक मुख रामजी भाखे।
वली मोह तजे छे माननी, श्वान सकल नुं खाय छे।
शामल कहे साचा विना, कोण स्वर्ग में जाय छे॥ १॥
उंचो भाले ऊंट, वगलो नीचो निहाले।
तरुवर सहे छे ताप, पहाड़ आसन दृढ वाले।
घर करी न रहे साँप, उंदरो रहे छिपीने।
नोली कर्म गज राज, भक्ष फल पत्र कपीने।
ईश्वर अनुभव विन नव मले, सहज भावना भंग छे।
शामल मनमां सिद्ध जेहने, तो कथोटीमां गंग छे॥ ३॥

(५) "मिथ्या शास्त्र पठन" जिन शास्त्रों में दया, क्षमा, शील, सत्य, त्याग, वैराग्य आदि सद्गुणों की प्राप्ति का कथन न हो—हिंसा, झूट, चौरी, कुशील, परिग्रह, क्लेश, झगड़े, क्रीड़ा, भोगोप भोग मदिरा, मांस, शिकार, संग्राम आदि की प्रशंमा एवं प्रतिष्ठा हो—जिनके श्रवण करने से विषयानुराग जगे—या क्रोधादि कषायों की वृद्धि हो—ऐसे शास्त्र मिथ्या शास्त्र कहे जाते हैं। जैसे शास्त्र पठन एवं श्रवण करने में आते हैं मस्तक में वैसे ही विचार जागृत होजाते हैं, और विचार दृढ आकृति धारण करके वैसे ही कार्य कराने की प्रेरणा भी कराते हैं—आखिर वैसे ही काम करा डालते हैं। अर्थात्—सद्गुणी कुमार्ग में रमण कर, अनाचार—विषय—कषाय आदि का सेवन कर, उत्तम नर जन्म की खुवारी कर डालते हैं। इत्यादि दूषण जान कर सम्यक् दृष्टि कुशास्त्र का पठन पाठन सर्वथा वर्जते हैं।

(६) "मिथ्या शास्त्र के धारक का परिचय" इस संसार में अनादि काल से सुमति और कुमति दोनों ही चली आती हैं, और दोनों ही का स्वरूप दर्शाने के लिये तत्पक्षपाती विद्वानों ने अपनी अपनी मति कल्प-

ना के अनुसार अनेक शास्त्रों की रचना रची है। * और तदनुसार सब को चलाने के लिये अपने से बनता प्रयत्न कर रहे हैं, अपने अपने मत की तह चित्त से स्थापना करने के प्रति परिश्रम कर रहे हैं। इन की परिक्षा सम्यक् दृष्टि को सम्यक् दृष्टि द्वारा ही करनी चाहिये कि इन में सच्चा कौन है और झूठा कौन ? ऊपर लिखे हुये पांच बोलों में कुशास्त्र के लक्षण बताये गये हैं, अतः कुशास्त्रों का परिचय सम्यक् दृष्टि को नहीं करना चाहिये।

मनहर

झूठी ऐसी पडिताई, पिंड पापकी भराई,
पिंड पातक लगाई, कहाँ पाई शुद्धताई को।
ज्ञान ध्यान को भुलाई, गुझ बुझ सूझ ताई,
सीख पाई कपटाई, निज स्वार्थ सजाई को॥
अच्छी गीलट बनाई, निज ओगुन छिपाई,
मूढ लोग भरमाई, खान पान की जुगाई को।
यहाँ राज पोपा बाई, चंपा चाह सो चलाई,
आगे राज जमराई, वहाँ सजा है अन्याई को॥

सम्यक्त्व के आठ दोष।

(१) "निः शंकित" राग आदि दोष और अज्ञान, ये दोनों ही असत्य बोलने में कारण भूत है। परंतु श्री जिनेन्द्र देवने अज्ञान का सर्वथा नाश कर दिया है, इस कारण श्री जिनेश्वर देवसे प्ररूपित हेय (त्याज्य) उपादेय (ग्राह्य) तत्वों में, मोक्ष और मोक्ष के मार्ग में, सम्यक्त्वियों को संदेह नहीं करना चाहिये। तत्व यही है, ऐसे ही है, अन्य नहीं है,

---

* धम्मा फल हेतव, जाचिक उदराय अधम लोभादी।
पर जणाय भंडाय, ण लजय हासिं जोडव कताए॥ ६४॥

अर्थात्—धर्मी जन धर्म फलके अर्थ, याचक जन पेटके अर्थ, अधर्मी द्रव्य के अर्थ, भांड दूसरों को रिझाने के अर्थ, निर्लज्ज दूसरो को हँसाने के अर्थ, कविता बनाते हैं। ऐसा सुदृष्ट तरंगणी में लिखा है।

अथवा अन्य प्रकार से नहीं है, ऐसी निष्कम्प खड्ग धारके समान सन्मार्ग में संशय रहित रुचि स्थापित करने को निशंकित अंग कहते हैं। यह व्यवहार नय से सम्यक्त्व का व्याख्यान किया। निश्चय नय से तो उक्त व्यावहारिक निशंकित गुण की सहायता से लोकादि सात ही भयों से रहित होकर, घोर उपसर्ग तथा परिसह उत्पन्न होने पर भी जो शुद्ध उपयोग रूप रत्न त्रय है, उनकी भावना से चलित नहीं होना है, वह निशंकित गुण है।

(२) "निःकांक्षित" इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी आशा रूप जो भोग कांक्षा निदान है, उसका त्याग करके जो केवल ज्ञान आदि अनंत गुणों की प्रकटता रूप मोक्ष है, तदर्थ ही ज्ञान ध्यान तपश्चर्या आदि अनुष्ठानों को करना निकांक्षित गुण है। कर्माधीन, अंत सहित, उदय में दुःख मिश्रित, और पाप बीज रूप—इत्यादि विचार से पौद्गलिक सुखों में अनित्यताका श्रद्धान करना निःकांक्षित अंग हैं। यह व्यवहार निःकांक्षित गुण का स्वरूप कहा। अब निश्चय से उक्त व्यावहारिक निष्कांक्षित गुण की सहायता से, देखे सुने तथा अनुभव किये हुये पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोगों के त्याग से, रत्न त्रय की भावना से एवं परमार्थतः निज आत्मा से उत्पन्न सुखरूपी अमृत रस में जो चित्तका संतोष होना है, वही निःकांक्षित गुण हैं।

(३) "निर्विचिकित्सा" भेदाभेद रूप रत्न त्रयके आराधने वाले जो भव्य जीव हैं, उनकी दुर्गन्धित तथा भयंकर आकृति आदि को देखकर धर्म बुद्धि से अथवा करुणाभावसे यथा योग्य विचिकित्सा ग्लानि को जो दूर करना है, उसे द्रव्य निर्विचिकित्सा गुण कहते हैं। और जैन मत में सब अच्छी अच्छी बातें हैं, परन्तु वस्त्र की मलिनता और जल स्नान आदिक नहीं करना ये ही दूषण हैं—इत्यादि कुत्सित भावों को विशेष ज्ञान के बल से दूर करना, यह निर्विचिकित्सा गुण है। भाव यह है कि रत्न त्रय से पवित्र, किन्तु स्वभावतः अपवित्र शरीर में ग्लानि न करके गुणों में प्रीति करना, यह व्यवहार तया निर्विचिकित्सा गुण है। और निश्चय से तो इसी व्यावहारिक निर्विचिकित्सा की सहा-

यता से जो समस्त राग द्वेष आदि विकल्प तरंगों का त्याग करके निर्मल आत्मानुभवरूप लक्षण निज शुद्ध आत्मा में स्थित होना है, वह निर्विचिकित्सा गुण है।

(४) " अमूढ़ दृष्टि " श्री वीतराग सर्वज्ञदेव कथित शास्त्र के आश्रय से बहिर्भूत जो कुदृष्टियों के बनाये हुवे, अज्ञानी जनों के चित्त में विषय उत्पन्न करने वाले, धातुवाद—क्षुद्र विद्या—व्यन्तर विकुर्वणादि शास्त्र है, उनको पढ सुनकर जो कोई मूढ भाव से धर्म की बुद्धि करके उनमें प्रीति तथा भक्ति नहीं करता है, और दुःखदायक कुत्सित मार्ग स्थित पुरुषों में मन से प्रमाणता, वचन से स्तुति, और काया से भक्ति नहीं करता है, वह व्यवहार से अमूढ दृष्टि गुण वाला है। और निश्चय में इसी व्यावहारिक अमूढ दृष्टि गुणके प्रसार से जब अन्तरंग तत्व (आत्मा) और बाह्य तत्व (शरीरादि) का निश्चय हो जाता है, तब संपूर्ण मिथ्यात्व रागादि शुभा शुभ संकल्प विकल्पों * पर से आत्म बुद्धि, उपादेय (ग्राह्य) बुद्धि, हित बुद्धि, और ममत्व भाव को छोड़ देता है तथा मन बचन काय इन तीनों की गुप्ति रूप से विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव के धारक निज आत्मा में जो निवास करना है, वही अमूढ दृष्टि नामक गुण है।

(५) " उप गूहन ,, यद्यपि भेदाभेद रत्न त्रयकी भावना रूप जो मोक्ष मार्ग है, वह स्वभाव से ही शुद्ध है। तथापि उसकी जब कभी अज्ञानी मनुष्य के निमित्त से अथवा धर्म पालन में असमर्थ पुरुषों के निमित्त निंदा आदि अप्रभावना होवे, तब शास्त्रानुकूल शक्ति के अनुसार धन से अथवा धर्मोपदेश से उन व्यक्तियों के दोषों को ढकना तथा लोक निंदा का दूर करना है सो व्यवहार उपगूहन गुण है। इसी प्रकार निश्चय में तो व्यवहार उपगूहन गुणकी सहायता से अपने निरंजन निर्दोष

* पुत्र तथा स्त्री आदि बाह्य पदार्थों मे ममत्व भावकी जो कल्पना है, वह संकल्प है। और अन्तरंग में मै सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ—इस तरह हर्ष एवं खेद करना, वह विकल्प है। अथवा यथार्थ रूप से तो जो संकल्प है, वही विकल्प है। अर्थात् संकल्प के विवरण रूप से विकल्प संकल्प का पर्याय है।

परमात्मा को ढकने वाले जो रागादि दोष हैं, उन्हीं दोषों का उसी परमात्मा में सम्यक् ज्ञान श्रद्धान तथा आचरण रूप ध्यान के द्वारा जो ढकना यानी नाश करना है सो ही उप गूहन गुण है।

(६) " स्थिति करण " भेद तथा अभेद रूप रत्न त्रय को धारण करने वाले जो साधू, साध्वी, श्रावक तथा श्राविका रूप चार प्रकार का संघ है, उसमें से जो कोई दर्शन मोहनीय के उदय से दर्शन को अथवा चारित्र मोहनीय के उदय से चारित्र को छोड़ने की इच्छा करे, तो उसको शास्त्र की आज्ञानुसार यथाशक्ति धर्मोपदेश से, धनादि सामर्थ्यसे और किसी भी उपाय से जो धर्म में स्थिर कर देना है, वह व्यवहार से स्थिति करण गुण है। और निश्चय से उसी व्यवहार स्थिरीकरण गुण से जब धर्म में दृढ़ता होजावे तब दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय के उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मिथ्यात्व राग आदि विकल्पों के त्याग द्वारा निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न परम आनन्द रूप सुखामृत रस के आस्वाद रूप जो परमात्मा में लीन होता है-समता भाव में स्थिर होता है, वही स्थिति करण गुण है।

(७) "वात्सल्य" बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के रत्न त्रय को धारण करने वाले चारों प्रकार के संघ में, जैसे गाय की बछड़े में जो प्रीति रहती है, अथवा पांच इन्द्रियों के विषय के निमित्त पुत्र स्त्री सुवर्ण आदि में जो स्नेह रहता है, उसी के समान अतुल्य स्नेह का जो करना है, वह व्यवहार नय की अपेक्षा से वात्सल्य गुण कहा जाता है। और जब व्यवहार वात्सल्य गुण के सहकारी भाव से धर्म में दृढ़ता हो जाती है, तब मिथ्यात्व राग आदि संपूर्ण बाह्य पदार्थों की प्रीति को छोड़कर सर्वोपाधिरहित आत्मिक आनंद में प्रीति करना ही निश्चय वात्सल्य है।

(८) " प्रभावना " जो तप और ज्ञान से जैन धर्मकी प्रभावना करते हैं और जो श्रावक व सम्यक्त्वी जन-ज्ञानप्रचार-दान-पुण्य-शील व्रतादि से जैन धर्म दिपाते हैं, अज्ञान अन्धकारको जैसे तैसे दूर करते हैं, सो व्यवहार प्रभावना है। और निश्चय से इसी व्यावहारिक प्रभावना गुण के बल से मिथ्यात्व विषय कषाय आदि संपूर्ण विभाव परिणाम